❀ श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष १ | गौराब्द ४६९, मास—दामोदर १६, वार—अनिरुद्ध बुधवार, २९ कार्त्तिक, सम्वत् २०१२, १६ नवम्बर १९५५ | संख्या ६

श्रीलसरस्वतीगोस्वाम्यष्टकम्

[त्रिदण्डिस्वामी-श्रीमद्भक्तिरक्षक-श्रीधर-महाराज- कृतः]

आशैशवोपासितभक्तियोगं दुःसंगत्यागाय दृढ़प्रतिज्ञं ।
कृष्णानुसन्धाननिमग्नचित्तं वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥१॥
श्रीगौरपादाब्जसुभृङ्गराजं नाम्नां प्रचारोद्यमपूर्णहृदं ।
श्रीधामसेवासु नितान्तचेष्टं वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥२॥

जो बचपनसे ही भक्तियोगके उपासक हैं, दुःसंगका परित्याग करनेमें दृढ़-संकल्प हैं और कृष्णानुसंधानमें निमग्न-चित्त हैं, उन श्रील सरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

जो श्रीगौर-सुन्दरके चरण-कमलोंके मधुपोंमें श्रेष्ठ हैं अर्थात् उनके अनन्य सेवक हैं, जिनका हृदय नाम-प्रचारके उद्यमसे परिपूर्ण है एवं जो श्रीधामकी सेवाके लिए अतिशय प्रयत्नशील हैं, उन श्रीलसरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ ॥२॥

शास्त्रार्थनिर्द्धारणसद्वरेण्यं
भक्तेर्विरुद्धाशयभेददक्षं ।
नित्यं सतां मानसराजहंसं
वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥३॥

जो शास्त्र-समूहोंका वास्तविक उद्देश्य निर्द्धारित कर सज्जनोंके वरेण्य हुए हैं, जो भक्तिविरुद्ध-चित्तको दमन करनेमें निपुण हैं एवं जो संतोंके मानस-सरोवर में राजहंसस्वरूपसे नित्य विचरण करते हैं, उन श्रील-सरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ।

निर्माय विस्तारिसुबोधभाष्यं
तत्त्वान्धलोकस्य सुदृक्प्रदञ्च ।
उत्पादिताशेषसुधीप्रमोदं
वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥४॥

जिन्होंने सुसिद्धांतपूर्ण भाष्यकी रचनाकर तत्त्वके विषयमें अन्ध जगत्को सुदर्शन प्रदान किया है, एवं सुधी व्यक्तियोंका आनन्दवर्द्धन किया है, उन श्रील-सरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ।

गोपेशनेत्रोत्सववृद्धिरामं
औदार्यमाधुर्यरसाब्धिपूर्णम् ।
राधासरस्तीरनिवासयत्नं
वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥५॥

जिनका रमणीय स्वरूप देखकर श्रीकृष्णका आनंद वर्द्धित होता है, जो औदार्य और माधुर्य के परिपूर्ण समुद्र हैं एवं जो अत्यन्त आग्रहसे राधाकुण्डके तटपर निवास करते हैं, उन श्रीलसरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ।

शुद्धेन ज्ञानेन जगज्जनानां
विनाशितं मोहघनान्धकारं ।
आचार्यवर्य्येण कृपामयेन
वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥६॥

जिन परम करुणामय आचार्यश्रेष्ठके द्वारा ज्ञान पाकर जगद्वासियोंका अज्ञान-अन्धकार विनष्ट हो गया है, उन श्रीलसरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ।

पारेसमुद्रं गुरुगौरवाणीम्
आम्नायधारा प्रसृतां समृद्धां ।
विस्तार्य योऽत्यन्तमुदं प्रलेभे
वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥७॥

जिन्होंने आम्नायधारा प्रसृत-अर्थात् श्रीगुरुपर-म्परा-धारासे निःसृत श्रीगुरुगौर-वाणी का पाश्चात्य देशोंमें प्रचार कर अत्यन्त आनन्द लाभ किया था, उन श्रीलसरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ।

चैतन्य संगीतिसहस्रवक्त्रं
जीवस्य दुःखेन दयार्द्रचित्तं ।
भृत्येषु दीनेषु कृपागुणाब्धिं
वन्दे प्रभुं श्रीलसरस्वतीं तम् ॥८॥

जो श्रीचैतन्यदेवका गुण वर्णन करनेमें सहस्र-मुख हो जाते हैं, जीवोंके दुःखसे जिनका हृदय द्रवित है एवं दीन सेवकोंके प्रति जो करुणाके सागर हैं, उन श्रीलसरस्वती प्रभुकी मैं वन्दना करता हूँ।

प्रतिबन्धक

जीवमात्रकी प्राप्य वस्तु है प्रीति। किन्तु वह प्रीति अनित्य हो, तो उसे शुद्ध अखण्ड-प्रीति नहीं कह सकते। प्रीति सभी चाहते हैं। प्रत्येक जीवमें हर समय प्रीति लाभ करनेकी चेष्टा देखी जाती है। पुत्र-शोकसे कातरा माता प्रीति पानेकी आशासे शोक करती है, प्रीति पानेकी आशामें विलासप्रिय जीव नृत्य,गीत और वाद्यादिकी ओर दौड़ता है और प्रीति के उद्देश्यसे इन्द्रिय-सुख प्राप्तिके लिए कितने ही शुभा-शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है।

प्रीति-लाभ करनाही चेतनका धर्म है

आज भी मानवज्ञानमें प्रीति लाभ करनेके उद्देश्यके सिवा चेतनका कोई दूसरा धर्म लक्षित नहीं होता। प्रीतिको ही केन्द्र कर चेतनकी समस्त चेष्टाएँ होती हैं। अतः ऐसी प्रीति किस प्रकार पाई जावे—उसके अनुसंधानमें समग्र चेतन-जगत् सर्वदा व्यग्र है। जीव सर्वदा प्रीतिकी खोज करते हैं,अतएव नित्य, प्रीति ही जीवोंके लिए प्रार्थनीय वस्तु है।

नित्य-प्रीतिकी प्राप्तिमें बाधा

जहाँ प्रीतिका अनुसंधानकारी देहात्मबुद्धिके कारण अपने अस्तित्वको अनित्य समझता है, वहाँ उसकी लक्ष्य वस्तु भी अनित्य होती है। बद्ध जीवमें नित्य-प्रीतिका अभाव होता ही है। अतः उस अभावको मिटानेके लिए उनमें नित्य प्रीति प्राप्त करनेकी चेष्टा देखी जाती है। किन्तु वह प्रीति मायिक काल और सीमा द्वारा बाधित होनेके कारण बद्ध जीवोंमें अनित्य और विकृत रूपमें प्रतिफलित होती है। जीवोंकी प्रीति जब तक मायिक काल और सीमाके अधीन रहती है तबतक नित्य-प्रीतिकी आकांक्षा रहनेपर भी उनमें वह (प्रीति) विशुद्धरूपमें प्रकाशित नहीं होती।

हरि-विमुख जगत् काल और सीमाके अधीन है

जगतकी सभी वस्तुएँ काल और सीमाके अधीन हैं, केवलमात्र भगवत्ता इनके अधीन नहीं है। काल और सीमा, भगवान्से उत्पन्न होकर प्राकृत जगत्में भगवद्बहिर्मुख जीवोंको आच्छादित करते हैं। भगवान्की कथा पढ़नेपर भी हरिविमुख जीव भगवान्को देश और कालके अन्तर्गत खींच लाते हैं।

हरिविमुखता दूर होनेपर भगवत् स्वरूपकी अभिव्यक्ति

हरिविमुख जीव अपनेको बाहरी जगत्का भोक्ता समझता है। जब उनकी बहिर्मुखता दूर हो जाती है तो उनका भोक्ता अभिमान दूर हो जाता है तथा वे मायिक काल और सीमाकी शृंखलासे मुक्त हो जाते हैं। हरिविमुख जीव अपना अनित्य और सीमाबद्ध ज्ञान परित्याग करने पर मायातीत जनक भगवान्का स्वरूप प्राप्त कर सकता है।

प्रीतिका अनुसंधान स्वभावगत है; प्राकृत और अप्राकृत दो भेद

नित्य और असीम प्रीतिका अनुसंधान जीवमात्र करता है। यह उनकी स्वाभाविक वृत्ति है। इसे वे सब समय अनुभव करें अथवा न करें, उनका यह धर्म कभी भी उनका संग नहीं छोड़ता—उनसे अलग नहीं होता। जो लोग प्रीतिका अनुसंधान करते हैं, वे दो भागोंमें विभक्त हैं। एक अनित्य प्रीतिका अनुसंधान करता है और दूसरा नित्य प्रीतिका;अर्थात् एक श्रेणीके लोग प्राकृत और दूसरी श्रेणीके अप्राकृत होते हैं। अनित्य और सीमायुक्त धर्म प्राकृत होता है; नित्य और वैकुंठ (असीम) धर्म अप्राकृत होता है। प्राकृत प्राकृत हरि-विमुख व्यक्ति अनित्य सुखकी लालसामें प्रमत्त रहते हैं, किन्तु अप्राकृत सेवोन्मुख व्यक्ति केवल कृष्ण-सेवा-सुखमें ही सर्वदा निमग्न रहते हैं।

प्राकृत हरिविमुख व्यक्तियोंका स्वाभाव—सत् वस्तुमें भोग्य-ज्ञान

प्राकृत व्यक्ति हरि विमुख होनेके कारण अनित्य और मायिक विषयोंका आदर करना सीखा है—यहाँ तक कि वे अप्राकृत भगवद् उन्मुख व्यक्तियोंके सेव्य

कृष्णचन्द्र, कृष्ण भक्ति और कृष्ण-भक्तिको भी अपना भोग्य समझते हैं। मुखसे अप्राकृत शब्द बोल कर अपनी अनित्य प्रीतिकी दूकान लगाया करते हैं। फल यह होता है कि नित्य प्रीतिमय विग्रह श्रीकृष्णचन्द्रके साथ उनका साक्षात्कार कभी नहीं होता। वे अप्राकृत कृष्ण, कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-भक्तको केवल अनित्य प्राकृत पिण्ड विशेष ही नहीं समझते अपितु अपनी भोग्य वस्तु भी समझते हैं।

अप्राकृत भक्तोंका स्वभाव—दुःसंग त्याग

अप्राकृत भक्तोंकी धारणा वैसी नहीं होती। जब प्राकृत व्यक्ति अप्राकृत धारणाको कलुषित करने के अभिप्रायसे अनित्य प्रीतिका ढोंग दिखलाता है तो भक्त उसका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करते हैं और वैसे संगको बिलकुल दुःसंग समझते हैं।

भक्त और अभक्तमें भेद

भक्त और हरि-विमुख अभक्तमें आकाश पाताल-का अन्तर है। भक्त-प्राकृत प्रतिबन्धक अर्थात् दुःसंग-को परित्याग करता है। किन्तु अभक्त अनित्य प्रीतिकी (आपात सुख)आशामें दुःसंग को छोड़ना नहीं चाहता, मादक द्रव्यका सेवन करनेवाला मादक द्रव्यका त्याग नहीं करना चाहता,स्त्रैण कभी भी अपनी सेव्य कामि-नियोंका परित्याग नहीं कर सकता। दुःसंग छोड़नेमें असमर्थ होनेसे उनकी अनित्य विषयोंमें अभिनिवेश —अत्यासक्ति हो जाती है।

दुःसंगका परित्याग ही मङ्गलका मूल है

प्राकृत बन्धु-बांधवोंके संगमें रंगजानेसे, कृष्ण या कृष्ण-भक्त हमारे एक मात्र परम बन्धु हैं—ऐसी भावना नहीं होती। मतवाला व्यक्तिका मादक द्रव्योंके, तथा स्त्रैण व्यक्तियोंका स्त्रियोंके हाथ से छुटकारा पाना बहुत ही कठिन होता है। किन्तु यह बात बिलकुल सत्य है कि जबतक दुःसंगका परित्याग न किया जाय तबतक कल्याण होनेकी कोई भी संभावना नहीं है।

अभक्तोंकी कुचेष्टासे समाजका अमंगल

प्राकृत अभक्त लोग बहुधा अपनी अपनी आस-क्तियोंका परित्याग करना तो दूर रहा, आत्मवंचनाके उद्देश्यसे विविध प्रकारका कौशल विस्तार करते हैं। इस तरह वे कपटका आश्रय लेकर समाजको ठगते हैं। भक्तोंका वेश धारणकर निरीह लोगोंको गाँजा-भाँग आदि मादक द्रव्य सेवन करनेकी शिक्षा देते हैं: विलासिता, इन्द्रिय-परायणता आदि दुराचार अप्राकृत भजनके अंग हैं—ऐसा प्रचार करते हैं।

अभक्तोंके प्रति अप्राकृत भक्तसमाजकी उपेक्षा

अप्राकृत भक्तसमाज इस श्रेणीके अभक्तोंको कपट और दुःसंग समझ कर उनकी उपेक्षा करता है। अप्रा-कृत होनेका—अप्राकृत अवस्था प्राप्त करनेका उपाय है—अप्राकृत शास्त्र और अप्राकृत भक्तोंकी वाणी श्रवण करना, किन्तु विषयोंमें आसक्त प्राकृत पाठक या श्रोता प्राकृत दुःसंगपूर्ण बुद्धिसे उसे दूषित कर देते हैं। वे अपना २ एक एक दल खड़ा कर निरपेक्ष सत्यको ढककर हरि विमुखता संग्रह करते हैं।

प्राकृत सहजियाकी अनित्य-प्रीति नित्य-प्रीति लाभमें बाधक है

नित्य प्रीति, नित्य वैकुन्ठ वस्तु कृष्णचन्द्रमें ही अवस्थित है। नित्य कृष्ण-भक्त निष्कपट होकर उस नित्य प्रीतिमय-विग्रह कृष्णकी सेवा करते हैं। कपट भक्त अपनी २ असक्तियोंका परित्याग नहीं करते वरन अनित्य वस्तुको कृष्ण-प्रीति संज्ञा देकर नित्य प्रीति लाभ करना चाहते हैं—यह उनकी केवल दुराशा है। अप्राकृत विषयोंका अनुसंधान करतेहैं और प्राकृत दुःसंग करते हैं—ऐसी चेष्टाको अप्राकृत नहीं कहा जा सकता। काठका सिंह जैसे हिंसा करनेमें असमर्थ होता है, दो गायोंके परस्पर संयोगसे जैसे बत्सकी उत्पत्ति असम्भव है, कृत्रिम सोनेका असली सोनेके साथ जैसे साम्य नहीं होता, वैसे ही प्राकृत सहजिया (कपट वेश धारी अभक्त चाहे कितना भी न क्यों भक्तिके अंगोंको अपनी कर्म चेष्टा द्वारा भोग करना चाहे, वे कृष्ण-प्रीति लाभ नहीं कर सकते।

कर्म, ज्ञान और अन्याभिलाष—कृष्णप्रेमकी प्राप्तिमें बाधक हैं

प्राकृत कर्मोंके द्वारा फल भोग प्राप्त होता है, प्राकृत ज्ञान द्वारा फल-त्याग होता है और यथेच्छाचारसे अनित्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त होता है। किन्तु अप्राकृत

हरि-भजनके प्रभावसे कृष्णप्रेम उदय होता है। अभक्तिकी चेष्टा अथवा कृत्रिम हरि-सेवा द्वारा कभी भी कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे आँख और कानमें खाद्य द्रव्य देनेसे पाकस्थलीमें नहीं पहुँचता है, तथा क्षुधा निवृत्ति नहीं होती है; वैसे ही अप्राकृत सेवोन्मुखताके सिवा भगवान्‌की सेवा होनेकी संभावना। प्राकृत प्रतिबंधक रहनेसे जीव कभी भी कृष्ण की सेवा नहीं कर सकता। यहाँ प्रतिबंधकके सम्बन्ध में श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोककी आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके,
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्य धीः।
यत्तीर्थ बुद्धिः सलिले च कर्हिचित्-
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

(श्रीमद्भा० १०।८४।१३)

'अर्थात्—जो मनुष्य इस स्थूल शरीरमें आत्म-बुद्धि अर्थात् वात,पित्त और कफ इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको आत्मा; स्त्री-पुत्र और परिवार आदिको ही अपना; मिट्टी, पत्थर, काष्ठादि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव (ईश्वर) मानता है एवं जलको ही तीर्थ समझता है—भगवद्भक्तोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें भी नीच गधा ही है।

प्राकृत सहजिया कृष्ण-भक्त नहीं है

गधा खाद्य-द्रव्योंका बोझ ढोता है, कलछी भोजन परोसती है, किन्तु वे उनका आस्वादन नहीं कर सकते। जैसे काँचके बर्त्तनमें बन्द मक्खी बार बार चेष्टा करनेपर भी काँचको पार नहीं कर सकती, वैसे ही प्राकृत सहजिया भी नित्य-प्रीति प्राप्त नहीं कर सकते।

प्राकृत सहजिया बोझ ढोने वाले गदहे हैं, वे लोग वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने इस प्राकृत शरीरको ही अप्राकृत आत्मा मानते हैं; अपने भोग्य स्त्री-पुत्र आदिको अप्राकृत समझते हैं; विष्णु विग्रहको प्राकृत मानते हैं एवं उनका विश्वास है कि जड़ पदार्थ भी जल आदि प्राकृत वस्तुओंके संयोगसे चित् हो जाता है। प्राकृत व्यवधान रहने पर अप्राकृत वस्तुकी उपलब्धि कभी नहीं होती। देह, धन, उच्चकुलमें जन्म ग्रहण करनेका सुख, लोभ, मायाधीश और मायाके अधीन जीवोंको बराबर समझना आदि प्राकृत प्रतिबन्धक-समूह परम प्रीति विग्रह श्रीकृष्णका प्रेम लाभ करनेमें बाधा देता है।

सहजियाके प्रति उपदेश

भाई जीव! श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती गोस्वामीने भी तुमको एक दिन कहा था—

दन्ते निधाय तृणकं पदयोर्निपत्य
कृत्वाच काकुशतमेतदहं ब्रवीमि।
हे साधवः सकलमेव विहाय दूराद्-
गौराङ्गचन्द्रचरणे कुरुतानुरागम्॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्-८।६०)

हम भी तुम्हें कहते हैं कि समस्त अभिमानोंका परित्याग करो, प्राकृत सम्मानकी आशा छोड़ दो, ऐसा करनेसे तुम नित्य अप्राकृत कृष्णनाम भजन कर सकोगे।

शुद्ध कृष्णनामकी सेवा करनेसे नित्य प्रीति लाभ होती है

दस प्रकारके नामापराधोंसे दूर रहो, तभी तुम कपटता शून्य शुद्ध स्वरूप-तत्त्व-ज्ञानरहित भगवन्नामोच्चारणरूप नामाभास कर सकते हो। इसप्रकार प्राकृत प्रतिबन्धकके हाथसे मुक्त होकर कृष्णनाम-सेवा करते-करते नित्य कृष्णप्रीति लाभकर सकते हो। कीर्त्तन प्रतिबन्धकहीन होने पर ही नित्य प्रीति लाभ होती है। उस समय प्राकृत काल और सीमा, वैकुण्ठ वस्तुनामको तुम्हें नित्य प्रीति प्रदान करनेमें बाधा नहीं दे सकते।

भाई जीव! वृथा समय नष्ट न करो। कूप मण्डूककी तरह अप्राकृत राज्यको प्राकृत न समझो, यदि ऐसा करोगे तो तुम्हीं ठगे जाओगे। अप्राकृतवस्तुकी मार्य्यादाकी हानि किसी प्रकार न कर सकोगे।

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती,

धर्म और विज्ञान

किसी ईसाई विद्वान्ने एक अँग्रेजी पत्रिकामें लिखा है—

"वर्त्तमान वैज्ञानिक गवेषणाके साथ धर्मभावका सामञ्जस्य जिस प्रकार उच्च जीवनाभिलाषियोंके निकट गम्भीर चिन्ताका विषय बना हुआ है, वैसा अन्य कोई विषय नहीं। क्या सत् है और क्या असत् है—इसे निर्धारण करने वाली बुद्धिके साथ जड़मूलक सिद्धांतका किस प्रकार सौहार्द स्थापन किया जाय तथा मनुष्यका उच्च जीवन अर्थात् ' अप्राकृत जीवन जड़ विज्ञान द्वारा निर्द्धारित मानवके जड़मूलक सिद्धांतके साथ किस तरह स्वीकार किया जाय, —ये दो प्रश्न तत्त्व-जिज्ञासुओंके हृदयको अवश्य उद्विग्न करते रहेगें। पारमार्थिक बुद्धि और जड़ वैज्ञानिक बुद्धि—इन दोनोंके बीच विरोध है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। जीवन तत्त्व निर्णयके अवसर पर यह विवादास्पद भाव नित्य वर्त्तमान है। प्रेमकी जगह ज्ञानके स्थापन करनेकी इच्छासे इस विरोधी भावकी उत्पत्ति होती है।

जीव जड़वस्तुसे पृथक तत्व है तथा वह इच्छा-शक्तिको परिचालित करनेमें समर्थ है

मनुष्य जीवनके जड़मूलत्व साधकरूपसे सत्-असत् विचार और धर्म भावके साथ उसका क्या सम्बन्ध है—यह गवेषणा द्वारा स्थिर किये जानेसे कुछ लाभ न होगा, ऐसी बात नहीं। प्रत्युत समस्त मानव जातिके लिए ऐसी गवेषणा नितान्त आवश्यक है। सब कालोंमें एवं सब देशोंमें आज तक जितनी प्रकारकी सामाजिक व्यवस्थाएँ हुई हैं, वे सभी एक-एक विश्वासके आधार पर स्थित हैं। वह विश्वास यह है कि मानव एक आध्यात्मिक पदार्थ है एवं अपनी स्वतंत्र इच्छाके अनुसार मानसिक और शारीरिक शक्ति परिचालित करनेमें समर्थ है।

आधुनिक विज्ञान इस विश्वासको दूर कर उसके स्थान पर उस विश्वाससे विलक्षण एक दूसरे विश्वास की स्थापना करना चाहता है। उनका विचार यह है कि मानसिक एवं शारीरिक शक्तियोंके समूहसे किसी जड़ यन्त्रकी तरह मनुष्यकी सृष्टि हुई है। इन दो भावोंमें अत्यन्त भेद दिखाई पड़ता है। आधुनिक विज्ञान सम्मत विचार स्वीकार करनेसे धर्म और सत्कार्यका प्राचीन मन्दिर केवल भग्न ही नहीं होता बल्कि एक भीत्तिहीन चित्रकी तरह उनकी प्रतीति ही तिरोहित हो जाती है। सत्असत् चिन्ता, विचार, दया, आशा और क्षमा—जो अभी हमारी सत्ता पर गभीर सत्यरूपमें प्रतीत हो रही हैं, एक ही समय आकाश कुसुमकी तरह निराधार प्रतिच्छायाके रूपमें पलट जाएँगी। सत् लोक और असत् लोक—इन दोनों के बीच पार्थक्य बुद्धि एकबार ही उठ जाएगी। नरभोजी राक्षस और परोपकारी यीशुख्रीष्ट दोनों ही भौतिक पदार्थोंसे उत्पन्न जड़-संतान प्रतीत होते हैं। वे दोनों ही मध्याकर्षण शक्ति द्वारा पर्वत शिखरसे गिरे हुए पत्थरके टुकड़ेकी तरह जड़ वस्तु विशेष हो पड़ते हैं। उनकी प्रसंशा और निन्दा तथा उनके प्रति राग-द्वेष कुछ भी आवश्यक नहीं होता। डार्विन, टिण्डल, हक्सले प्रभृति आधुनिक वैज्ञानिकोंके ग्रन्थोंकी आलोचना करनेसे प्रतीत होता है कि इनका मत ऐसे विकृत सिद्धांतोंसे डरता नहीं बल्कि इनलोगोंने इन विकृत सिद्धांतोंका यथेष्ट विरोध किया है।

तर्क क्षेत्रमें विज्ञान और आत्माके परस्पर अविरोधी होनेपर भी प्रतिद्वन्दता

मानव जीवनके अन्तरंग रहस्यका निर्णय करते समय जड़मूलक मतवादके उपर सम्पूर्णरूपसे निर्भर रहनेसे पूर्वोक्त सिद्धांतसे रक्षा पानेका कोई उपाय नहीं। इस सिद्धांतके अनुसार मनुष्य केवल भौतिक पदार्थोंसे उत्पन्न एक यंत्र विशेष है-यही मानलेना होता है। ऐसा न माननेसे जड़वादियोंका तर्क समाप्त हो जाता है, वे अग्रसर नहीं हो सकते। ऐसे स्थलोंपर सरल जिज्ञासुओंका कर्तव्य होता है कि वे जड़वादियोंको उनके सिद्धांतोंकी समीक्षाके लिए बाध्य करें और उनसे स्पष्ट

शब्दोंमें—'हम सत्य कहते हैं या नहीं'—उत्तर ग्रहण करें।

जड़वैज्ञानिककी अपेक्षा आत्मतात्विक श्रद्धेय है

कुछ वर्ष पहले लूएलिन डेविससे अपने लेखमें लिखा है:—

मानलिया जाए कि विज्ञान और आत्माके तत्त्वोंमें विरोध न होनेपर भी परस्पर प्रतिद्वन्द्वता है। अब विचार करना है—इनमेंसे हमारी श्रद्धापर किनका विशेष अधिकार है। दोनोंका समान सम्मान करनेसे हम विशेष सन्तुष्ट होते, किन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते। जब जड़वादियोंने विज्ञानको अधिक सम्मान देना स्वीकार कर लिया है, तब हमारा ऐसा प्रश्न करना अनधिकार चर्चा नहीं। उनका विज्ञान उनके अप्राकृत जीवन सम्बन्धी किसी भावका आभास नहीं देता, केवल क्रमोत्पत्ति, शक्तिकी रूपान्तरता, स्वभावकी गति और सिद्धक्रम—इन्हीं शब्दोंको व्यक्त करता रहता है। इन भावोंके प्रति वे स्वयं ही श्रद्धा प्रकाश करते हैं। वे इन्हीं भावोंको सुन्दर तत्त्व कहकर व्याख्या तो करते हैं, पर खुद ही वे कुछ समझते नहीं। वे इन तत्त्वोंके अनुशीलनकी चेष्टाके लिये अनेकों प्रकारके अनुष्ठान किया करते हैं। ईसाई धर्म्मालम्बी हम ऐसे व्यक्ति-विशेषके सिद्धान्त-वाक्योंका अनादर नहीं करते, किंतु जड़वादियोंका विज्ञान जब सामने आता है, हम उसके प्रति कुछ विशेष श्रद्धा प्रकाश नहीं कर पाते; हम स्पष्टही कह देते हैं कि इन विज्ञान-वादियोंकी वैशारदी-बुद्धिकी अपेक्षा आत्मतत्त्वके प्रति हमारी भक्ति अधिक है।

आत्मतत्त्व पारमार्थिक उर्द्ध्वगति सम्पन्न है

हमारी विवेचनाका मूल प्रश्नतो यह है कि बैकुण्ठसे प्रेरित आलोकका अवलम्बन वे करेंगे अथवा नहीं? बात ऐसी है कि तुम विज्ञानके अनुगत होगे या आत्मज्ञानके? विज्ञान विगत व्यापारों और निम्नगत व्यापारोंको लक्ष्य करता है, किन्तु आत्मतत्त्व जीवोंके भावी व्यापार और उर्द्ध्वगतिके प्रति दृष्टि रखता है। विज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत कार्योंको अनुसंधानपूर्वक देखता है कि वस्तुओंका क्रम-विवर्त्त किस प्रकार हुआ है। किन्तु आत्मज्ञान पारमार्थिक जीवनसे अमृत-पान करता हुआ काव्य और शिल्पकी रचना करनेमें समर्थ होता है।

लू-एलिन डेविसका विचार शुद्ध नहीं

लू-एलिन डेविसकी बातें सुन्दर रूपसे सज्जित होने पर भी इनमें बहुतसे वितर्कोंके स्थल हैं। इसमें सर्वत्र ये ही विचार लक्षित होते हैं। यद्यपि आत्मज्ञान विज्ञानकी अपेक्षा काव्य, शिल्प, तथा सामाजिकभाव और धर्मभावसे उत्पन्न होनेके कारण हमारी श्रद्धाके ऊपर अधिक दावा कर सकता है तथापि जीवनके वैज्ञानिक भाव हमारी श्रद्धाके ऊपर कुछ न कुछ दावा अवश्य रखता है, क्योंकि यह सत्य है।

वैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रमाणित है, अतः वह हेय है

हम ऐसा स्थिर करते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्त हमारी श्रद्धाका पात्र होना तो दूर रहा, नितान्त हेय है। क्योंकि वैज्ञानिक जिसे सिद्धान्त कहते हैं, उसमें विज्ञानका कुछ भी लक्षण नहीं। उसमें कुछ ऐसी बातें हैं जो न तो प्रमाणित हैं और न प्रमाणके योग्य ही हैं। देखिये, नव्य वैज्ञानिकोंकी असल बात क्या है? उनका असल विचार यह है कि मनुष्यकी आध्यात्मिक सत्ता नहीं। अतः उनके चरित्र और इतिहासके क्रमोन्नतिके सम्बन्धमें उसका कोई कार्य नहीं। किसी ईसाई विद्वानका कहना है कि यीशु-प्रेमके द्वारा मैं ऐसे कार्योंको किया करता हूँ, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीके क्रमोत्पत्तिकी साधना करने वाले वैज्ञानिक कहते हैं कि सचमुचमें बात ऐसी नहीं। ऐ ईसाइयों, तुमलोगोंका वैसा विचार केवल शुद्ध भ्रम है। तुमलोगोंका यीशु-प्रेम सामाजिक कर्मोंका मुख्य कर्त्ता नहीं। एक वैद्युतिक संवाददाताकी तरह ईसाइयोंका प्रेम सांसारिक कार्योंका नितान्त गौण कर्त्तामात्र है। सुख-दुःख, अश्रु-हास्य, विश्वास, आशा, उच्चाभिलाष तथा प्रेम—ये ही सामाजिक कार्योंके गौण नियन्ता हैं।

क्रमोत्पत्तिवादका खण्डन

न्यायानुसार वैज्ञानिकोंका यह विचार सिद्धान्तरूपसे ग्रहण किया जासकता है। परन्तु अब हम देखें कि मानव जातिके विश्वासके ऊपर इस प्रकारके दावेका कारण क्या है? आजकल जिसे वैज्ञानिक जगत् कहा गया है, वह डार्विनके क्रम-उत्पत्ति सिद्धान्तके

चरणोंमें इतनी दूर तक साष्टांग प्रणत है कि "डार्विन-का सिद्धांत एक मतवादमात्र है," इसे दिखलानेके लिए एक विशेष साहसकी आवश्यकता है। डार्विनके परम भक्तोंने जिन-जिन विचारोंको स्वीकार किया है, उनके द्वारा ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज भी उनके पास प्रमाणोंका अभाव है। केवल यहीं तक ही नहीं, उनके प्रमाणोंका सदैव अभाव रहेगा। एकजातीय वस्तुकी अनेकजातीय आकृति और वर्ण कृत्रिम उत्पत्ति द्वारा हो सकता है,—यह देखकर वे स्थिर करते हैं कि किसी मूल आकारसे आकार वैचित्र्यकी उत्पत्ति होती है। प्रकृति कभी भी सर्व प्रकारसे समान दो वस्तुओंको उत्पन्न नहीं करती। एकही वृक्षकी अगणित पत्तोंमें एक पत्तेके समान दूसरा एक भी पत्ता नहीं दीख पड़ता। कोई भी जन्तु सर्व प्रकारसे अपने माता या पिता के समान नहीं होता। ऐसे अतात्त्विक क्रमको देखकर माली, पशु-पालक या उनकी तरह बहुतेरे-लोगोंने परिश्रम और यत्नके साथ एक जातीय वस्तुसे अनेक प्रकारकी आकृतिशाली वस्तु अर्थात् उद्भिद् और जन्तुओंको उत्पन्न किया है। किन्तु अभी तक दो जातीय वस्तुओंको एकत्र कर पृथक् एक तृतीय जातीय वस्तुका निर्माण करनेमें समर्थ नहीं हो सके हैं। मानव-सृष्टिके बाद क्रम-उत्पत्तिका कोई कार्य लक्ष्य नहीं किया जाता, इसे क्रम-उत्पत्तिवादी भी अस्वीकार नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि बहुत दिन व्यतीत हुए बिना एक नयी जातिकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव एक नयी जातिके दर्शनकी अभिलाषा इतना शीघ्र करना उचित नहीं। अब बात ऐसी हुई कि प्रति-दिन, प्रति-घन्टा और प्रति मुहूर्तकी घटनाओंमें विश्वास परित्यागकर एक अदृष्ट-फल रूपी मतवादको स्वीकार किया जाय, जिसका स्वभाव विचार करनेसे उसे प्रमेय (जो प्रमाण द्वारा प्रमाणित हो) नहीं कहा जा सकता। (क्रमशः)

—ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

प्राचीन कालकी घटना है। एक वेदज्ञ महर्षि थे। उनका नाम था याज्ञवल्क्य। मैत्रेयी और कात्यायनी—ये उनकी दो पत्नियाँ थीं। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी विदुषी और कात्यायनी साधारण महिला थी। महर्षि याज्ञवल्क्य बहुत दिन गृहस्थ आश्रममें ही रह कर ब्रह्म-तत्त्वका अनुशीलन करते रहे। एक दिन उन्होंने घर-बार, धन-सम्पत्ति और अपनी प्रियाओं तकका परित्याग कर संन्यास लेनेका विचार किया। उन्होंने मैत्रेयीसे कहा—"अरी मैत्रेयि! मैंने गृहस्थ आश्रमको परित्यागकर,संन्यास लेनेका सङ्कल्प कर लिया है। इसमें मैं तेरी अनुमति चाहता हूँ,और चाहता हूँ कि जाने-से पहले यह सारी सम्पत्ति तुम दोनोंमें बाँट दूँ।"

इसे सुनकर मैत्रेयीने महर्षि याज्ञवल्क्यसे जिज्ञासाकी—"भगवन्! यदि धनसे सम्पन्न यह सारी वसुन्धरा मेरी हो जाय तो क्या मैं अमृतत्व लाभ कर सकती हूँ?"

याज्ञवल्क्यने कहा—"नहीं, इनके द्वारा तुम अमृ-तत्व लाभ नहीं कर सकती। पर भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्यका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्व लाभकी तो तनिक भी आशा नहीं।"

मैत्रेयीने कहा—"जिससे मैं अमृतत्व लाभ नहीं कर सकती, उन धन सम्पत्ति आदि भोगोंको लेकर क्या करूँगी? अतएव हे भगवन्, आप जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।"

आनन्दसे गद्-गद् होकर याज्ञवल्क्यजीने कहा—"मैत्रेयि, तू पहले भी मेरी प्रिया थी और अब भी तू मुझे प्रिय लगने वाली ही बात कह रही है। आ,निकट बैठ जा। मैं तेरे निकट आत्म-तत्त्वकी व्याख्या करूँगा। तू खूब सावधानीसे विचारपूर्वक मेरी बातों को सुनना। मैत्रेयि! पतिको सुख देने के लिए पत्नि पतिके प्रिय कार्योंको नहीं करती बल्कि अपने सुखके

लिए ही वह पतिको प्यार करती है। स्त्रीके सुखके लिए स्त्री पतिकी प्रिया नहीं होती, किन्तु पतिके सुखके लिए ही स्त्री प्रिया होती है। पिता पुत्रके सुखके लिए पुत्रका स्नेह नहीं करते, अपने सुखके लिये ही पिता पुत्रको स्नेह करते हैं। धनके प्रयोजनके लिए अथवा धनके सुखके लिये धन प्रिय नहीं होता है, अपने प्रयोजनके लिए धन लोगोंका प्रिय होता है। ब्राह्मणोंके सुखके लिये लोग ब्राह्मणोंकी भक्ति नहीं करते, अपने प्रयोजन-सिद्धिके लिये लोग ब्राह्मणोंकी भक्ति करते हैं। राजाके प्रयोजनकेलिए राजा प्रजाके प्रिय नहीं होते, बल्कि स्वार्थके लिए ही राजा प्रजाके प्रिय होते हैं। स्वर्गके प्रयोजनके लिए लोग स्वर्गकी आकांक्षा नहीं करते, किंतु अपने सुख-भोगके लिये ही लोग स्वर्गकी आकांक्षा किया करते हैं। देवताओं के प्रयोजनके लिए लोग देवताओंकी पूजा नहीं करते, स्वार्थ-सिद्धिके लिये ही लोग इनकी पूजा करते हैं। प्राणियोंके प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने-अपने प्रयोजनके लिये ही लोग उनका आदर-यत्न करते हैं— वे लोगोंके प्रिय होते हैं। गायके सुखके लिये गाय प्रिय नहीं होती; बल्कि दूधके लिये ही गाय लोगोंको प्रिय होती है। माता स्नेहसे ओत-प्रोत होकर संतानका चुम्बन करती है, संतानके क्रन्दन करने पर भी वह उसका चुम्बन करना छोड़ती नहीं, क्योंकि माता अपने सुखके लिये ऐसा करती है,न कि संतानके सुखके लिये। अरी मैत्रेयि! अधिक क्या कहूँ? सभी अपने-अपने प्रयोजनके लिये ही सब कुछ करते हैं। अतएव पति, पुत्र, धन आदिके प्रति जो प्रीति होती है वह केवल कपटता होती है। तू इस कपटताका परित्याग कर और जो सबके नित्य प्रिय वस्तु हैं, जो आत्माके आत्मा हैं, एकमात्र इन भगवान्‌की प्रीतिके लिये उनकी आराधना कर, उनके दर्शन कर, उनकी कथाएँ श्रवण कर, उनका स्मरण कर, और उनका ही ध्यान कर। मैत्रेयि! उनको जाननेसे सभी कुछ जानना हो जाता है— सबका ज्ञान हो जाता है, उनसे प्रीति करनेसे सबसे प्रीति करना हो जाता है, एकमात्र उन भगवान्‌की सेवा द्वारा ही तू अमृतत्व लाभ कर सकती है"

—बृहदा० चतुर्थ ब्राह्मणके आधारपर

ब्रजके सन्त कवि

श्रीरूप और सनातन

मध्यकालीन सन्त कवियोंमें रूप और सनातन गोस्वामीका ऊँचा स्थान है। ये दोनों सगे भाई थे और इनका जन्म ईस्वी पन्द्रहवीं शतीके अन्तिम दशकमें बङ्गालके एक संपन्न घरानेमें हुआ था। इनके पूर्वज कर्णाटकके शासक रह चुके थे और कालान्तरमें बङ्गाल आकर यहीं स्थायी रूपसे बस गये थे। रूप और सनातन बाल्यकालसे ही होनहार थे। बड़े होने पर बंगालके नवाब हुसेनशाहने उन्हें अपना मन्त्री बनाया। शासन-कार्यको इन दोनों भाईयोंने बड़ी योग्यताके साथ चलाया।

जब चैतन्य महाप्रभुके अवतीर्ण होनेका तथा उनकी महिमाका पता इन बन्धुओंको चला तब वे उनके प्रति बहुत आकृष्ट हुए। चैतन्यभी रूप-सनातनका अपने प्रति निष्कपट भक्तिभाव देखकर बहुतही सन्तुष्ट हुए और उन्हें अपने महान् कार्यके लिये उपयुक्त माना। चैतन्यकी यह उत्कट इच्छा थी कि श्रीकृष्णकी लीला भूमि ब्रजका पुनरुद्धार किया जाय और एक बार फिर वृन्दावन आदि स्थलोंमें प्रेमभक्तिकी धारा बहाई जाय। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने १५०६ ई० में लोकनाथ भट्टाचार्य तथा भूगर्भ नामक दो व्यक्तियोंको वृन्दावन भेजा। परन्तु फिरभी वे निश्चिन्त न हो सके। भागवतादि पुराणोंमें वर्णित ब्रजके तीर्थस्थलोंका महत्त्व लुप्त हो चुका था। और बहुतही कम स्थानोंका स्मृति-चिह्न अवशेष रह

गया था, जिन्हें पहचानना भी कठिन हो गया था।

लगभग १५१४-१५ ई० में चैतन्य स्वयं ब्रज आये। वे मथुरामें श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर निर्मित भगवान् केशवके मन्दिरमें तथा अन्य पवित्र स्थानोंमें गये। वृन्दावनको देखकर तो मानों उनकी पूर्व स्मृति जग उठी और वे प्रेममें विह्वल हो गये। यहाँ वे कुछ समय तक रहे और फिर पुरीकी ओर चलेगये। उनके अनेक शिष्य और भक्त भी उधर चले गये। चैतन्य महाप्रभुके निर्देशानुसार रूप गोस्वामी अगले वर्षके प्रारम्भमें वृन्दावन आये और यहाँ करीब दो मास तक रहकर श्रीमन्महाप्रभुसे फिर मिलनके लिये ब्रजधाम छोड़कर चले गये। इसके बाद ही सनातन वृन्दावन आये। फिर ये भी चैतन्यकी खोजमें पुरीधाम चले गये।

मई, १५१७ ई० में रूप और इसके दो वर्ष बाद सनातन पुनः वृन्दावन आ गये। यहाँ वे अब स्थायी रूपसे रहकर अपना कार्य पूरा करनेमें जुट गये और जीवनपर्यन्त यहीं रहे।

रूप और सनातनका भ्रातृस्नेह अनुकरणीय था। राम और लक्ष्मणकी तरह इनकी यह अविलग जोड़ी थी। भक्ति और विद्वत्ताके ये साक्षात् प्रतिरूप थे। चैतन्यने वृन्दावनके उद्धारके लिये ठीक ही इन दोनों महापुरुषोंको एक साथ चुना। कविकर्णपूरने "चैतन्य-चन्द्रोदय" में लिखा है—

'कालेन वृन्दावनकेलिवार्त्ता लुप्तेति तां ख्यापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषेच देवस्तत्रैव रूपं च सनातनं च॥"

अर्थात् अधिक समय व्यतीत होनेपर श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीलाका रहस्य लुप्त हो गया था। उसे फिरसे प्रसिद्ध करनेके उद्देश्यसे चैतन्यने कृपापूर्वक रूप और सनातनको इस कार्यमें नियोजित किया। वृन्दावन-में रूप और सनातनके स्थायी निवास कारण यह स्थान भक्तिके अनवरत गानसे गुञ्जरित हो उठा। बंगाल तथा अन्य प्रदेशोंसे आकर भक्त लोग यहाँ जम गये। रूप और सनातनका जीवन आदर्श वैष्णवका जीवन था। वृन्दावनमें उनके भतीजे जीव गोस्वामी भी आगये, जो एक प्रकांड विद्वान् थे। इनके अतिरिक्त रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट, तथा रघुनाथ दास—ये तीन अन्य गोस्वामी भी माने हुए आचार्य थे। इस प्रकार ये गोस्वामी चैतन्य मतके प्रधान आचार्य हुए। इनका अधिकांश समय भगवद्भजन तथा ग्रन्थ-लेखनमें व्यतीत होता था। किसी विवादास्पद विषयपर इनका निर्णय ही अन्तिम होता था। इन आचार्योंके ग्रन्थों-की प्रतिलिपियाँ करा कर उन्हें बंगाल तथा अन्य स्थानोंमें भेजा जाता था। चैतन्य मतमें उक्त गोस्वा-मियोंका जैसा गौरवपूर्ण स्थान है, वैसेही वल्लभ संप्रदायमें अष्टछाप कवियोंका माना जाता है।

रूप और सनातनके संबंधमें अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार श्रीगोविन्ददेवने रूपको स्वप्नमें दर्शन दिये कि "मैं अमुक स्थानमें जमीनके नीचे गड़ा हूँ, तुम वहांसे मुझे निकालो।" तदनुसार रूपने भगवानकी श्रीमूर्त्ति निकाली और उसे प्रतिष्ठा-पित किया। रूपकी प्रेरणासे आमेरके राजा मानसिंह ने गोविन्ददेवका प्रसिद्ध मंदिर बनवाया। यह मंदिर लाल पत्थरका बना है और वृन्दावनमें ही नहीं, सारे उत्तर भारतमें मुगलकालीन स्थापत्यकी एक अनोखी कृति है। अन्य शासकों और धनाढ्य व्यक्तियोंने भी वृन्दावनमें अनेक मंदिर, महल, घाट और बगीचे बनवाये। अब वृन्दावनकी काया पलट गई और यहाँ स्थायी निवासियोंकी संख्या भी बढ़ गई। मथुरा और गोकुलमें इस कालमें अनेक इमारतोंका निर्माण हुआ।

१६ वीं शतीमें वृन्दावन भक्तिरसका प्रमुख केन्द्र बन गया। साथ ही यहाँ वैष्णव मतके सिद्धान्तोंका अध्ययन अध्यापन भी बढ़ा। इसका प्रधान श्रेय रूप और सनातनको है। इन कर्मठ बन्धुओंने यहाँ वैष्णव मत संबंधी पुस्तकोंका संग्रह कराना शुरू किया। फिर वे विविध विषयोंपर स्वयं भी रचनाएँ करने तथा अन्य विद्वानोंको इस ओर प्रेरित करने लगे। रूप और सनातन संस्कृतके महान् पंडित थे। उनकी सभी रच-नाएँ संस्कृतमें हैं। रूपने कई नाटक लिख कर श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओंका मनोरंजक वर्णन किया है। इन नाटकोंमें 'ललितमाधव' 'विदग्धमाधव' और 'दानकेलिकौमुदी' प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने कई ग्रंथोंमें भक्ति-शास्त्रके गूढ़ सिद्धान्तोंका विस्तारसे प्रतिपादन किया। इनमें 'भक्तिरसामृतसिंधु' तथा 'उज्ज्वलनील-मणि' प्रमुख हैं। 'लघु भागवतामृत' नामक ग्रंथमें रूपने सनातन गोस्वामीके बृहद्भागवतामृत ग्रन्थका

अवलम्बन कर उपास्य तत्त्व और उसके साधनके क्रम-विकाशका विवेचन किया है। इनकी अन्य रचनाएँ 'हंसदूत' 'उद्धवसंदेश', 'पद्यावली', 'मथुरा महिमा' आदि हैं। कुछ रचनाएँ तो काव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर हैं। इनमें माधुर्य छलकता है। इनके पढ़नेसे पता चलता है कि भक्तिरसमें सराबोर होकर रूपने उनकी रचना की। कुछ उदाहरण देखिए:-

राधा कृष्णका स्मरण करते हुए कवि लिखता है:-

"कनकजलदगात्रौ नीलशोणाब्जनेत्रौ-
मृगमदरसभालौ मालतीकुंदमालौ ।
तरलतरुणवेशौ नीलपीताम्बरेशौ-
स्मर निभृतनिकुंजे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥"

"हे मन, तू कुंजमें विराजमान उन राधाकृष्णका स्मरण कर, जिनकी शरीरकांति सोने तथा मेघके समान है; जिनके नेत्र नील और लाल कमल जैसे हैं; जिनके मस्तकपर कस्तूरी तथा गलेमें मालती और कुन्द पुष्पोंकी मालाएँ शोभित हैं और जिनका चंचल नवीन वेश नीले एवं पीले परिधानोंसे अलंकृत हैं।"

राधाकृष्णके आनन्दमय चरितका जैसा सरस-सुन्दर वर्णन रूपने किया है वैसा बहुत कम संस्कृत कवियोंमें मिलता है। रूपने माधुर्य रसका छक कर पान किया और दूसरोंको कराया, ब्रज-नायक कृष्णकी लोकरंजिनी लीलाओंका तथा ब्रजभूमिकी शाश्वत सुषमाका गान उनकी रचनाओंमें पदे पदे मिलता है। 'उद्धव-संदेशका एक पद देखिये जिसमें रूपने गोपियों-का विरह वर्णन किया है :

"आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धं;
जात्या भीरुः कतिपुनरहं वासराणि क्षपिष्ये ।
एते वृन्दावन विटपिनः स्मारयन्तो विलासान्;
उत्फुल्लास्तान्मय किल बलान्मर्म निर्मूलयन्ति ॥"

(गोपी अपनी सखीसे कहती है: "अरी सखि, वृन्दावनकी ये पुष्पित वृक्षावलियाँ, जहाँ मैंने किसी समय कृष्णके साथ रास-विलास किये, अब मेरे मर्म को वेध सी रही हैं। तू ही बता, इन प्राणों"को आशा के पाशमें बाँधकर मैं भीरु स्त्री कितने दिन और व्यतीत कर सकती हूँ।)

कितनी मार्मिक वेदना इस कथनमें व्याप्त है। भोली गोपबालाने अपना हृदय खोल कर रख दिया है—वह हृदय जो अपने प्रियतमकी विरह-जनित-कचोटोंको अब अधिक नहीं सहन कर सकता।

रूपकी कविताओंमें शब्दलावण्य बहुत है। परन्तु उनकी रचनाओंमें चमत्कार प्रदर्शनकी भावना नहीं। वे अपने हृद्गत भावोंको सरल भाषामें ही व्यक्त कर उन्हें आकर्षक रूप प्रदान करते हैं।

अब हम सनातन गोस्वामीकी रचनाओं और उनके काव्यकी संक्षिप्त चर्चा करेंगे। सनातन आयुमें रूपसे बड़े थे एवं रूप गोस्वामीके गुरु थे। सनातन श्रीकृष्णके माधुर्य भजनमें बराबर लगे रहते थे। इनके भक्तिमय जीवनकी अनेक बातें भक्तोंमें प्रसिद्ध हैं।

रूपके द्वारा जहाँ भक्ति शास्त्रके गूढ़ सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया वहाँ सनातनने चैतन्य मतके नियमों और आचारोंका वर्णन किया। दूसरे शब्दोंमें यदि कहें तो रूपने रागानुगा भक्तिको और सनातन ने वैधी भक्तिको उपबृंहित किया। इस प्रकार दोनों भाइयोंने मिलकर चैतन्य मतको पूर्ण रूप प्रदान किया।

सनातनने 'हरिभक्तिविलास' नामक एक बड़े ग्रन्थका प्रणयन किया। इसमें श्रीविग्रहों के निर्माण, उनकी प्रतिष्ठा, पूजा-अर्चा तथा वैष्णवोंकी जीवन चर्याका विधान है। तत्कालीन मतोंकी तुलनात्मक दृष्टि से भी उस ग्रन्थका महत्व है। सनातनके अन्य ग्रन्थ 'कृष्णलीलास्तव', 'रसमयकलिका' आदि हैं। इनका 'बृहद्भागवतामृत' काव्यकी दृष्टिसे बहुत सुन्दर है। इसमें भागवत पुराणकी कृष्ण-कथाका विस्तारसे वर्णन है। धर्मतत्त्वके क्रम-विकाश और चरम सिद्धांतोंका निरूपण इसमें मिलता है। 'वैष्णव तोषणी' नामक एक टीका भी इन्होंने भागवत पर लिखी, जिसके कुछ अंश बड़े मार्मिक हैं। सनातनकी रचनाके कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं वृन्दावनका वर्णन करते हुए वे 'बृहद्भागवतामृत' में लिखते हैं:—

"जयति जयति वृन्दारण्यमेतन्मुरारेः
प्रियतममतिसाधुस्वान्तवैकुंठवासात् ।
रमयति स सदा गाः पालयन् यत्र गोपीः
स्वरितमधुरवेणुर्वर्द्धयन् प्रेमरासे ॥"

(अर्थात् उस वृन्दावनकी जय हो जो श्रीकृष्णको वैकुण्ठसे भी अधिक प्यारा है, जिस वृन्दावनमें

गोपाल कृष्ण गौवोंको चराते हैं और जहाँ वे रास लीलामें प्रेमवर्धक मधुर बंशीको बजाते हुए गोपियोंको आनन्दित करते हैं।)

ब्रजभूमि और वहाँके निवासियोंकी महिमाका वर्णन करते हुए सनातन लिखते हैं:—

"किं वर्ण्यतां व्रजभुवो महिमा च तस्या,
यत्रैव तद् स भगवान् वितनोति रूपं।
यत्तादृश प्रकृतिनाप्यमुना समेतान्,
आभ्यत्रिका दधति भावमिमेऽपितद्वत् ॥"

(उस ब्रजभूमि और वहाँके निवासियोंकी महिमा किस प्रकार बरणी जाय, जहाँ भगवान् स्वयं रूप ग्रहण कर लीला करते हैं—जो लीला नित्य है और जिसे वैष्णवजन आज भी दर्शन करते हैं। अन्य स्थानोंके साथ कतिपय बातोंमें साम्य होते हुए भी ब्रजभूमिका भाव और रङ्ग अनूठा एवं निराला है।)

ब्रजमें श्रीकृष्णकी बाल-लीलाओंके अनेक सुन्दर वर्णन सनातनकी कवितामें मिलते हैं। गोचारी कृष्णका एक चित्रण देखिए:—

"गोवर्द्धनाद्रिनिकटेषु स चारयन् गाः,
रेमे कलिंदतनयाम्बुधि पाययंस्ताः।
सायं तथैव पुनरेत्य निजं व्रजं तं,
विक्रीडति व्रजवधूभिरसौ व्रजेशः ॥"

(बालकृष्ण गोवर्द्धन पर्वतके निकट गौवें चराते, उन्हें जमुना-जल पिलाते और ग्वालबालों सहित स्वयं भी नदीमें क्रीड़ाएँ करते। सायंकाल वे गौवें लेकर घर लौटते और फिर गोपकन्याओंके साथ खेल खेला करते थे।)

धन्य है इन भक्तप्रवर गोस्वामी बन्धुओंको, जिन्होंने श्रीकृष्णकी नित्य सनातन लीलाओंका ऐसा मधुर गायन किया। इन बन्धुवरोंने अपने जीवन पर्यन्त अपने अप्राकृत भजनके स्वाभाविक रीतिका वर्णन किया। इन्होंने ब्रजभूमिसे लेकर सारे भारतमें भक्ति रसकी ऐसी धारा बहाई जिसमें अवगाहन कर कितने ही जन कृतार्थ हुए। हम इन दोनों संत बंधुओं के इसलिये भी ऋणी हैं कि इन्होंने ब्रजके अनेक लुप्त-प्राय स्थानोंको खोजकर निकाला और उनकी महिमा को फिरसे प्रकट किया। इनके द्वारा रचित साहित्य हमारी बहुमूल्य सांस्कृतिक निधि है।

अंतमें नाभाजी कृत 'भक्तमाल'के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादासजीने भी श्रीरूप-सनातनके प्रति जैसी श्रद्धा प्रकट की है, हम भी उन्हीं शब्दोंमें अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं:—

"वृन्दावन ब्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय,
दई दरसाई जैसी शुक-मुख गाई है।
रीति हू उपासना की भागवत अनुसार,
लियो रससार सो रसिक सुखदाई है।
आज्ञा प्रभु पाइ पुनि गोपेश्वर लगि आइ,
किये ग्रंथ भाइ भक्ति भाँति सब पाई है।
एक-एक बात में समात मन-बुद्धि जब,
पुलकित गात दृगझरी सी लगाई है।"

—श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए., विद्यालङ्कार
अध्यक्ष, पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा

'नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्'

अर्जुन मिश्र एक दरिद्र ब्राह्मण थे। किन्तु थे परम भगवद्भक्त। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताकी एक टीका लिखी है। वे नित्य प्रातःकाल भजन कार्यसे निबट कर एक प्रहर दिन चढ़ने तक श्रीगीताकी टीका लिखा करते थे। उसके बाद भिक्षाके लिए बाहर चले जाते। जो कुछ पाते पत्नीके आगे रख देते। वे बड़े प्रेमसे रन्धन करतीं, भगवानको भोग लगाकर स्वामीको महाप्रसाद भोजन करातीं और जो कुछ बचता, सन्तुष्ट चित्तसे स्वयं पा लेतीं। उनके सभी कपड़े फटे-पुराने थे। केवल एक धोती कुछ अच्छी थी, जो बाहर पहन कर जानेके उपयुक्त थी। ब्राह्मण उसे पहन कर भिक्षाके लिए बाहर जाते, तो ब्राह्मणी चिथड़ोंसे अपने अंगोंको

ढक कर लज्जा निवारण करतीं। स्वामी जब भिक्षासे लौटते, तब ब्राह्मणी उसी धोतीको पहनकर बाहर आतीं-जातीं और गृहकार्योंको सम्पन्न करतीं। फिरभी दोनों सर्वदा सन्तुष्ट रहते—दरिद्रताको भगवान्‌की देन समझकर। 'गृहदेवता श्रीगोपीनाथ जी कृपा कर जो कुछ भिक्षा दे देते हैं, उसे उनको निवेदन कर महाप्रसाद पाते हैं'—सर्वदा उनकी ऐसी ही भावना होती। उनके दिन आनन्दसे कटते। सांसारिक दुःख कष्टसे वे तनिकभी विचलित नहीं होते।

इसी प्रकार दैनिक नियमितरूपसे गीताकी टीका लिखी जाती। एक दिन ब्राह्मण भजनसे निवृत्त होकर टीका लिखने बैठे। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां''''नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता ९/२२) श्लोककी टीका लिखनी थी। श्लोक पढ़ते ही एक जटिल समस्या पैदा हुई। किसी प्रकारभी उसका समाधान नहीं पा रहे थे वे। जो स्वयं भगवान् हैं, जो सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्डके एकमात्र अधिश्वर हैं क्या वे अपना अनन्य भावसे भजन करने वाले व्यक्तियोंका योग-क्षेम स्वयं वहन करते हैं? नहीं; ऐसा कदापि संभव नहीं। यदि यह सत्य है, तो मेरी अवस्था ऐसी क्यों है? मैं तो अनन्य भावसे केवल उन्हींका भरोसा करता हूँ—अपना यथासर्वस्व उन्हींके चरणोंमें अर्पण कर दिया हूँ, फिरभी मुझे ऐसा दारिद्र्य-दुःख क्यों भोगना पड़ता है? अतः 'नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकला हुआ वाक्य नहीं, बल्कि प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। वे अपनी बुद्धिसे गुत्थीको जितना ही सुलझाने की चेष्टा करते, और अधिक उलझते गये। धीरे-धीरे उनका संदेह बढ़ता गया। आखिर उन्होंने उस अंशको लाल रोशनाईकी तीन रेखाओंसे काट दिया और ग्रन्थ लिखना बन्द कर भिक्षाके लिए निकल पड़े।

इधर करुणामय प्रणतपाल भगवान्‌ने देखा कि हमारे भक्तके मनमें हमारे वचनोंपर संदेह उत्पन्न हुआ है। इसलिए उन्होंने उसका संदेह दूर करनेका एक उपाय सोचा। वे अति मनोहर सुकुमार नील श्याम वर्ण बालका वेश धारणकर दो टोकरियोंमें प्रचुर चावल, दाल, तरकारी और घी वगैरह सामान भर कर बहँगी पर रखकर उसे स्वयं अपने कंधोंपर वहन करते हुए मिश्रजीके दरवाजे पर पहुँचे। दरवाजा भीतरसे बन्द था। उन्होंने पहले दरवाजा खटखटाया और फिर जोर-जोरसे 'माताजी! माताजी!! पुकारने लगे। बेचारी ब्राह्मणीके पास कोई कपड़ा नहीं था। चिथड़ोंको लपेट कर किसीके सामने जाय भी तो कैसे? वे लज्जावशतः चुपचाप बैठी रहीं। किन्तु दरवाजे की खटखटाहट और पुकारनेकी आवाज बन्द होनेके बदले क्रमशः बढ़ती गयी। आखिर लाचार होकर दरवाजा खोल दिया। बालक भार उठाकर भीतर आँगनमें रखकर वहीं एक तरफ खड़ा होगया। ब्राह्मणी लज्जासे सिमटीसी मुख नीचे कर घरके भीतर घुस गयीं। बालक वेशधारी भगवान्‌ने ब्राह्मणीसे कहा—

'माँ! पण्डितजीने (मिश्रजीने) मुझे यह सीधा देकर भेजा है। आप इसे भीतर रख लें।'

ब्राह्मणी अबतक लज्जाके मारे घरमें मुख नीचा किए हुए खड़ी थीं। बालकके मधुर शब्दोंको सुनकर आँगनमें देखा—बड़ी बड़ी दो टोकरियाँ खाद्य-द्रव्योंसे भरी हुई हैं। इतना बड़ा सीधा उन्होंने अपने जीवन भर कभी नहीं देखा था। बालकके बार-बार कहनेसे वे सामानोंको एक एक कर घरमें रखने लगीं। आनन्द और उत्साहसे सामनोंको ले जानेके समय बार-बार बालकके मुखारविन्दकी ओर निहारती जातीं थीं।

बालकका सुन्दर मुख-मण्डल देखकर वे निहाल हो गयीं—आहाहा! कितना सुन्दर मुख है: श्याम वर्णमें इतना अलौकिक सौन्दर्य हो सकता है—इसकी जीवनमें कभी कल्पना तक न की थी। वे छकी सी रह गयीं। देखते-देखते उनकी दृष्टि बालकके वक्षःस्थलपर पड़ी। उन्होंने देखा—उसकी छाती पर तीन लम्बे लम्बे दाग पड़े हैं। जैसे किसीने अभी अभी किसी तेज अस्त्रसे चीर दिया हो और खून निकले पड़ते हैं। वे आतुर होकर बोलीं—'बेटा! तुम्हारे वक्षःस्थलको किस निर्ममने चीरा? हाय हाय! ऐसे सुकोमल अङ्गोंपर आघात करनेसे तो पाषाण-हृदयभी गल जाय।'

बालक वेशधारी कृष्णने कहा,—'माँ! मुझे सीधा लानेमें कुछ देर हो गयी थी, इसलिए मिश्रजीने स्वयं मेरी छातीको चीर दिया।'

'ऐं ! उन्होंने तुम्हारी छाती को चीर दिया ?'—ब्राह्मणीकी आँखें सजल हो आयीं। 'अच्छा, घर आने दो। उनसे पूछूँगी, तुम्हारे सुकोमल अंगोंपर उन्होंने किस प्रकार निष्ठुर होकर हाथ उठाया ? बेटा ! दुःख न करो। थोड़ी देर ठहर जा, अभी अभी रसोई हुई जाती है। तू ठाकुरजीका प्रसाद पाकर जाना।'

ब्राह्मणीने बालकको आँगनमें बैठा कर रसोईके आयोजनमें व्यस्त हो पड़ी। इधर भगवान्‌ने सोचा—'जिस उद्देश्यके लिए मैंने इन सामानोंको स्वयं वहन कर लाया था, वह पूर्ण हो गया है। ब्राह्मण अब घर आकर हाथों-हाथ मेरे वाक्यकी सत्यताका प्रमाण पा जाएँगे। उन्हें फिर कभी भी मेरे वाक्योंपर अविश्वास या संदेह न होगा।' इस तरह भक्तका संदेह दूर करनेकी व्यवस्था कर वे तत्क्षण अन्तर्द्धान हो गए।

ब्राह्मणको आज बहुत चेष्टा करनेपर भी कुछ भिक्षा न मिली। निराश होकर घर लौटे। सोचा,—'ठाकुरजीकी ऐसी ही इच्छा है।' दरवाजा खटखटाते ही ब्राह्मणीने दरवाजा खोल दिया। घरमें प्रवेश करते ही पत्निको रन्धनका आयोजन करते देख कर बोले,—'रंधनका आयोजन तो कर रही हो, पर आज कुछभी भिक्षा नहीं मिली। क्या राँधोगी ?'

"क्यों ? कुछ देर पहले ही तो आपने उस बालक के हाथसे जो इतना बड़ा सीधा भेजा है, हम दोनों उसे छः महीनोंमें भी समाप्त नहीं कर सकेगें। फिर 'रसोई क्या होगी'—ऐसा क्यों कहते हैं"—ब्राह्मणीको कुछ विस्मय हुआ। "किन्तु आपका हृदय पाषाण जैसा इतना कठोर हो सकता है—मैं पहले तो ऐसा नहीं जानती थी। इस निरीह बालकके सुकोमल अंगों पर आपने आघात कैसे किया ? थोड़ी भी दया न आयी ? उसकी छाती चिर जानेसे लाल लाल तीन दाग हो गये हैं, मानों अभी अभी रक्त निकल पड़े।"

मिश्रजीको आचार्यका ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा—'आखिर बात क्या है ? साफ साफ कहो। मैंने न तो कोई सामान भेजा है और न किसी बालक को ही मारा है। मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता।'

ब्राह्मणीने पतिदेवकी बात सुनकर उन्हें घरमें रखे चावल दाल, आटा आदि सामानोंको दिखलाया और आँगनेमें बैठे बालकके वक्षःस्थलमें चिरे हुए दागोंको दिखलानेके लिए उन्हें साथ लेकर आँगनमें आयीं। देखा, वहाँ बालक नहीं है। कहाँ गया ? इधर उधर खोजा। बाहरका दरवाजा पूर्ववत् बन्द था। दोनों हैरान होकर एक दूसरेकी तरफ देखने लगे। मिश्रजीको अब कुछ भी समझना बाकी नहीं रहा। उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। फिर भी रहा-सहा संदेह दूर करनेके लिए हाथ-पैर धोकर ठाकुर घरमें गए और गीता ग्रन्थको खोज कर देखा—आज सबेरे उन्होंने लाल रोशनाईकी जिन तीन रेखाओंसे "नित्याभियुक्ताना योगक्षेमं वहाम्यहम्" को काट दिया था, अब वे तीनों रेखाएँ नहीं हैं। वे आनन्दसे गद्‌गद् होकर ठाकुर घरसे निकल आए और रोते रोते पत्नीसे बोले,—'प्रिये ! तुम धन्य हो, आज तुम्हें गोपीनाथजीके साक्षात् दर्शन मिले। ये सभी सामान उन्होंने स्वयं वहन कर लाए हैं। भला मैं इतना सामान कहाँ पाऊँगा ? आज सबेरे गीताकी टीका लिखते समय मुझे भगवान्‌की वाणी पर संदेह हुआ था। मैंने संदेहयुक्त अंशको लाल रोशनाईकी तीन रेखाओंसे काट दिया था। इसीसे हमारे गोपीनाथजीका सुकोमल वक्षःस्थल चिर गया है। वे परम करुणामय हैं। उन्होंने अपनी वाणीकी सत्यता प्रमाणित कर मेरे जैसे नास्तिकका संदेह दूर करनेके लिए कितना कष्ट उठाया है।' वे आगे बोल न सके, गला रुद्ध हो गया। वे प्रेममें विभोर होकर 'हा गोपीनाथ ! हा गोपीनाथ !! कह कर गिर पड़े। ब्राह्मणी गोपीनाथके सामने सुध-बुध खोईसी खड़ी थी, उसकी भी आँखे बरस पड़ी।

कुछ देर बाद ब्राह्मणकी चेतनता आयी। उन्होंने स्नानादि नित्य क्रिया समापन कर गोपीनाथजीका भोग लगाया और परम प्रीतिके साथ दोनोंने महाप्रसाद पाया। फिर वे नियमित रूपसे गीताकी टीका लिखने लगे। उनका जीवन अत्यन्त प्रेममय हो उठा।

—श्री नवीनचन्द्र चक्रवर्त्ती, स्मृति-व्याकरण तीर्थ

शरणागति

दैन्य—त्रासात्मक

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुर]

धनोपार्जन किया मैंने, जवानी में बना कामी ।
स्मरण कर धर्म गृहिणी का गहा तब हाथ हे स्वामी ॥
गृहस्थी साथ में उसके जमाने का इरादा कर ।
समय यों ही बहुत-सा तो बिताया व्यर्थ ही प्रभुवर ॥
बहुत-से पुत्र-पुत्री फिर हुए, जिन से गया घर भर ।
अनेकों कष्ट, चिन्ताएँ, नहीं थीं छोड़ती दम भर ॥
बुढ़ापा आ गया, दिन-दिन बढ़ा बोझा गृहस्थी का ।
हुई अस्थिर,अचल मति गति,हुआ जीवन जगत फीका ॥
सताती नित्य थी चिन्ता, करे पीड़ा विकल विह्वल ।
अभावग्रस्त होकर फिर रहा दुःखाग्नि में मैं जल ॥
अन्धेरा हर तरफ है, कुछ न सूझ लग रहा है भय ।
उबरने के लिए उससे करूँ क्या देव करुणामय ॥
नहीं है थाह जिसकी, वह नदी संसार की भारी ।
मरण सिर पर खड़ा है, कुच की मेरी है तैयारी ॥
"यहाँ का काम पूरा कर, बजे जब कुच की भेरी ।
भजूँगा तब तुम्हें स्वामी", विफल आशा है यह मेरी ॥
सुनी प्रभु, सत्य करता हूँ, तुम्हारे बिन नहीं गति है ।
बिना प्रभु की कृपा पाए, वृथा संसार की रति है ॥
निराशा सब तरफ से है, मुझे चरणों में आश्रय दो ।
करूँ सेवा सदा प्रभु की, हृदय की वासना क्षय हो ॥

गीताकी वाणी

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष १, संख्या ४, पृष्ठ ११६ से आगे]

भगवान् कृष्णचन्द्रने गीतामें कर्म, ज्ञान, योग और भक्तिका विषय वर्णन किया है। किन्तु उनमेंसे प्रत्येक ही उनका समर्थित साधन नहीं है। केवल भक्ति ही गीताका चरम प्रतिपाद्य विषय है। जहाँ कर्म-ज्ञानादिका उल्लेख है—वहाँ तुलनामूलक विचार दिखलाकर भक्तिका उत्कर्ष प्रदर्शनके लिये है; प्रत्येक साधनका मुख्य तात्पर्य भक्तिमें पर्यवसित है। नीचे एक तालिका दी जारही है। इसकी निरपेक्ष आलोचना करनेसे इस विषयमें स्थिर निश्चय किया जासकता है।

(१) कर्म—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्म्मणः ॥३।८॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
२।४७-४८॥

बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्मात् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
२।५०-५१॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥३।७॥
यज्ञार्थात् कर्मनोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥३।९॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्व्वन्ति भारत ।
कुर्य्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥३।२५॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्म तृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३।१७॥
मयि सर्व्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगत ज्वरः ॥३।३०॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्म्मणः ।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः
कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत्
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्ज्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
४।१६-१९॥

(२) ज्ञान—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥२।४९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२।४०॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्व्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२।५६-५७॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्व्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥२।६०।६१॥
इन्द्रियानां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥२ ६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्व्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
या निशा सर्व्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
२।६८-६९॥

यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्ज्जिताः ।
ज्ञानानिदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४।१९॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्व्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
४।३३-३४॥

बहुना जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्ल्लभः ॥७।१९॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयिचानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्म ज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
१३।७-११॥

(३) योगः—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यसी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः
॥६।१॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥
यदाहि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्व्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
६ । ३-४ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः ॥
६ । ७-८॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमानसमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
६। १०-१४॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्व्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्व्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥
६ । ३०-३१।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्ज्जुन ॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
६ । ४६-४७॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः ॥
८ । १४ ॥

उपर्युक्त श्लोकोंकी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि भगवत्-कर्म करनेके लिए ही कर्मका मुख्य उपदेश दिया गया है; ज्ञानवान् होकर श्रीभगवान्का आश्रय करने वाला ही वास्तविक ज्ञानी है; और समस्त योगियोंमें जो श्रद्धालु होकर भगवान्का भजन करते हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। अतएव कर्म, ज्ञान और योग—ये तीन साधनाङ्ग भी भक्तिमें ही पर्यवसित हैं। भक्तिके बिना उनकी क्रिया निष्फल है। यहाँ स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेवने संक्षेपमें गीताकी चरम मीमांसा करते हुए कह रहे हैं—

पूर्व्व आज्ञा,—वेद-धर्म, कर्म, योग, ज्ञान।
सब साधि अवशेष-आज्ञा—बलवान् ॥
(चैतन्यचरितामृत मध्य २२।५६)

अर्थात् गीताके अनेक स्थलोंमें गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम, गुह्याद्गुह्यतर प्रभृति ज्ञानोंका उपदेश दिया गया है। किन्तु अठारहवें अध्यायका चरम उपदेश है—

सर्व्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
१८।६४-६६॥

यहाँ कर्म, ज्ञान, योग और विभिन्न देव-देवियों-की पूजा आदि सभी रद्द हो गये हैं। केवल भक्ति ही मुख्य अंग है। भक्तिका आश्रय ग्रहण करनेसे उसका नाश नहीं होता—यह भी "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" (९-३१) श्लोकमें परिस्फुट है। और गीताके अंतमें गीताशास्त्रमें किसका अधिकार है—इस विषयमें कह रहे हैं—

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रुषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥
(गीता १८।६७)

अर्थात् "अभक्तको कभी नहीं कहना चाहिए" कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तके सिवा गीता-पाठका अधिकारी कोई नहीं है। अभक्त गीताका पाठ कर विभिन्न धारणाओंके वशवर्ती होकर इसका वास्तविक उद्देश्य धारणा करने में असमर्थ होता है ।

श्रीचैतन्यदेवने श्रीरंगक्षेत्रमें ठहरनेके समय गीता के पाठ करनेवाले किसी विप्रको गीता अध्ययन करते देखकर पूछा था—

"महाप्रभु पुछिल तारे, शुन, महाशय ।
कौन अर्थ जानि" तोमार एत सुख हय ॥
विप्र कहे मूर्ख आमि, शब्दार्थ ना जानि ।
शुद्धाशुद्ध गीता पढ़ि, गुरु-आज्ञा मानि ॥
अर्जुनेर रथे कृष्ण हय रज्जुधर ।
वसियाछेन ताते,—येन श्यामलसुन्दर ॥
अर्जुनेरे कहिलेन हित उपदेश ।
ताँरे देखि, हय मोर आनन्द-आवेश ॥
यावत् पढ़ों, तावत् पाऊँ तार दरशन ।
एई लागि' गीता-पाठ न छाड़े मोर मन ॥
प्रभु कहे,—गीता-पाठे तोमारई अधिकार ।
तुमिसे जानह एई गीतार अर्थ सार ॥

(चैतन्यचरितामृत मध्य ९।९७-१०२)

अर्थात् महाप्रभुने उस गीतापाठकसे पूछा कि गीता पढ़नेमें उसे इतना आनन्द क्यों होता है ? उसके हृदयमें कौनसा अपूर्व अर्थ उदित होता है ? विप्रने उत्तर दिया कि वह एक मूर्ख व्यक्ति है । उसे गीताके श्लोकोंका अर्थ जानना तो दूरकी बात है,वह साधारण शब्दोंका भी अर्थ नहीं जानता । वह केवल अपने गुरु की आज्ञा मानकर शुद्धाशुद्ध गीताका पाठ करता है। गीता पाठ करनेके समय उसे मालूम होता है कि मानों श्याम-सुन्दर कृष्ण अर्जुनके रथपर सारथीके रूपमें बैठे हैं और अर्जुनको हितोपदेश कर रहे हैं—यह देखकर उसे अतिशय आनन्द होता है । जब तक वह गीताका पाठ करता है तबतक वह उनका दर्शन पाता है । इसलिये उसका मन गीता-पाठ छोड़ना नहीं चाहता। इसे सुनकर महाप्रभुने सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणकी प्रशंसा करते हुए कहा कि गीता-पाठमें उसीका अधिकार है और उसीने सम्पूर्ण गीताका सारार्थ समझा है।

अतएव गीताका पाठ कर भक्तिके प्रभावसे भगवान्का दर्शन होनेसे ही गीता-पाठ करनेकी सार्थकता सिद्ध होती है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

तत्व-परिचय

ईश्वर, चित् और जड़

जगत्में तीन प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं, इनके नाम हैं—ईश्वर, चेतन और जड़ । जिस वस्तुमें इच्छा-शक्ति नहीं है उसे जड़ कहते हैं । जैसे—मिट्टी, पत्थर, जल, अग्नि, वायु, आकाश, गृह, वन, शस्य, वस्त्र, शरीर इत्यादि वस्तुओंको हम जड़ कहते हैं, क्योंकि ये सब इच्छाहीन वस्तुएँ हैं । मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतङ्ग—ये सब चेतन हैं । हमलोगोंमें इच्छाशक्ति और विचार-शक्ति है । मनुष्योंमें जिस प्रकारकी विचार-शक्ति है वैसी और किसी चेतन पदार्थमें नहीं है । इसीलिये मनुष्यको सभी चेतन और अचेतन पदार्थोंका राजा कहते हैं । ईश्वर समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंका सृष्टिकर्त्ता है । उनका जड़ शरीर नहीं होनेके कारण हमलोग उन्हें देख नहीं सकते । वे पूर्णस्वरूप और शुद्ध चेतन पदार्थ हैं । वे हमलोगोंके सृष्टिकर्त्ता, पालक और नियन्ता हैं । उनकी इच्छा होनेसे हमारा मङ्गल होता है और उनकी इच्छासे हमारा सर्वनाश होता है । वे भगवत् स्वरूपसे सर्वदा वैकुण्ठधाममें राज्य करते हैं । वे सभी राजाओंके राजा हैं । उनकी इच्छासे जगत्के सभी काम होते हैं ।

ईश्वरका आकार जड़ नहीं है

जड़ पदार्थका जिसप्रकार एक स्थूल आकार होता है, ईश्वरका आकार वैसा नहीं होता । इसीलिये हम उसे जड़ इन्द्रियों द्वारा देख नहीं पाते । अतः वेदोंमें उसे निराकार कहा गया है ।

भगवानका स्वरूप चिन्मय है

सभी पदार्थोंका एक एक रूप होता है । ईश्वरका भी एक स्वरूप है । जड़ वस्तु-मात्रका स्वरूप जड़मय है और चेतन पदार्थका स्वरूप चेतनमय है । हम लोग भी चेतन पदार्थ हैं, किन्तु हम लोग जड़ शरीर-विशिष्ट हैं । अतएव हम लोगोंका चेतन स्वरूप जड़-मय-स्वरूपके बीचमें छिप गया है । ईश्वर विशुद्ध चेतनमय हैं, अतएव उनका चेतनमय स्वरूपके अलावे और कोई दूसरा स्वरूप नहीं है । यही चेतन-स्वरूप उनका आकार है । और यह आकार हमलोग केवल शुद्ध चेतनमयी आँखोंसे देख सकते हैं । जड़ आँखें उसे देख नहीं सकतीं ।

नास्तिक-स्वभाव

कितने अभागोंको ईश्वरमें विश्वास नहीं होता । उनकी ज्ञानमयी आँखें बन्द होती हैं । अपनी जड़ आँखोंसे ईश्वरको देख नहीं पानेके कारण वे समझते हैं कि ईश्वर है ही नहीं । जन्मान्ध मनुष्य जिस प्रकार सूर्य्यका प्रकाश देख नहीं सकता, वैसे ही नास्तिक लोग भी ईश्वरमें विश्वास करने में असमर्थ होते हैं । स्वभावसे ही मनुष्यमात्र ईश्वरमें विश्वास करते हैं । केवल वही लोग जो लड़कपनसे ही असत्संग में कुतर्क सीखते रहे हैं, कुसंस्कारके कारण ईश्वरका अस्तित्व अस्वीकार करते हैं । इससे उनकी अपनी हानिके सिवा ईश्वरकी क्या हानि हो सकती है ।

वैकुण्ठ-धाम कहनेसे उसे कोई एक जड़मय स्थान नहीं समझना चाहिए । मद्रास, बम्बई, काश्मीर, कलकत्ता, लण्डन, पेरिस आदि स्थान जड़मय हैं । वहाँ जानेके लिए हम लोगोंको अनेक जड़मय भूमि अथवा देश पार करने पड़ते हैं । एयरोप्लैन, जहाज या रेल-गाड़ी द्वारा जानेमें भी बहुत समय लगता है । जड़ शरीरको पैरोंके सहारे चलना पड़ता है । किन्तु वैकुण्ठ वैसा प्रदेश नहीं है । समस्त जड़ जगत्-से अतीत एक अवस्थान-विशेषका नाम वैकुण्ठ है । वह चिन्मय, नित्य और निर्दोष है । उसको आँखें देख नहीं सकतीं या मन उसकी चिन्ता नहीं कर सकता । उसी अचिन्त्य धाममें परमेश्वर विराजमान है । उसे प्रसन्न करनेसे हम लोग भी वहाँ जाकर नित्यकाल परमेश्वरकी सेवा कर सकते हैं ।

जड़ जगत् और दुःख

हमलोग यहाँ जिसे सुख कहते हैं वह नित्य नहीं है, वह थोड़ी देरके लिए रहकर पुनः लुप्त हो जाता है । यहाँ जो कुछ है सभी दुःखमय है । जन्म होनेके समय बहुत ही कष्ट और दुःख होता है । जन्म होने पर आहारादि द्वारा शरीर पुष्ट होता है, परन्तु भोजन नहीं मिलनेसे उसका अभाव क्लेशजनक होता है । पीड़ा सर्व्वदा ही बनी रहती है । शीत, उष्ण इत्यादि नाना प्रकारके कष्ट हैं । इन समस्त कष्टोंको दूर करने-

के लिए तरह-तरहके शारीरिक कष्ट स्वीकार कर धन उपार्जन करना पड़ता है। घर-द्वार बनाए बिना रहा नहीं जाता। विवाह करके सन्तानादिकी उत्पत्ति करनी पड़ती है। क्रमशः बुढ़ापा आनेपर कुछभी अच्छा नहीं लगता। जीवनमें अन्यान्य लोगोंके साथ वाद-विवादादि अनेक प्रकारकी दुःख-प्रद परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि संसारमें 'अमिश्र-सुख' नामकी कोईभी चीज नहीं है। दुःख और अभावोंके क्षणिक निवृत्तिको लोग 'सुख' कहते और समझते हैं। ऐसे संसारमें रहना हमलोगोंके लिए कष्टकर है। परमेश्वरके वैकुन्ठ-धाममें जानेपर इन अनित्य सुख-दुखोंका लेश भी नहीं रह जाता और अजस्र नित्यानन्द प्राप्त हो जाता है। अतएव परमेश्वरका तुष्टि-साधन करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

ज्ञानोदय होनेके साथ-ही-साथ बाल्यकालसेही ईश्वरका भजन करना उचित है।

जिस समय मनुष्यका ज्ञानोदय होता है उसी समयसे ईश्वरकी प्रसन्नताके साधनमें लग जाना श्रेयस्कर है। "अभी हमें संसारमें सुख-भोग करना है, फिर बुढ़ापेमें ईश्वरकी तुष्टिका साधन कर लूँगा" —ऐसा सोचनेसे कुछ भी काम नहीं होगा। समय बहुत ही दुर्लभ है। जिस दिनसे कर्त्तव्य ज्ञान हो जाता है उसी दिनसे साधन करनेका यत्न करना अति आवश्यक है। विशेषतः मानव जीवन अत्यन्त दुर्लभ और अस्थिर है। किस दिन मृत्यु धर दबायेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता है। बालकपनमें परमेश्वरका साधन नहीं हो सकता—ऐसा सोचना अनुचित है। हमलोग इतिहासोंमें देखते हैं कि ध्रुव और प्रह्लादने अत्यन्त शैशवावस्थामें ही ईश्वरका अनुग्रह प्राप्त किया था। जब एक मनुष्य कोई काम कर सकता है, तो मनुष्यमात्र भी उस कामको कर सकता है—इसमें सन्देह क्या है? विशेषतः जिस कामके करनेका अभ्यास शुरूसे ही किया जाता है वह स्वाभाविक हो जाता है। अतः ईश्वरका भजन करना सबके लिए आवश्यक है।

श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमा और श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें कार्त्तिक व्रत

इस वर्ष स्थानीय श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें रूपानुगवर आचार्य ॐ विष्णुपाद १०८श्रीश्रीमद्-भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजके आनुगत्यमें श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमा तथा कार्त्तिकव्रत या ऊर्ज्जव्रत अथवा दामोदरव्रतका पालन करनेके लिये भारतके विभिन्न प्रदेशोंसे सैकड़ों शुद्धवैष्णव, भक्त और सज्जन लोगोंका समावेश हुआ है। गत ३१ अक्टूबर, सोमवारसे कार्त्तिक व्रत और विराट संकीर्त्तन तथा शोभायात्राके साथ श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमा आरम्भ हुई है। परिक्रमा और नियम सेवाके साथ-साथ प्रत्येक दिन स्थानीय मठ तथा परिक्रमाके शिविरोंमें प्रवचन कीर्त्तन, वक्तृता, इष्टगोष्ठी और विग्रह-सेवा आदि विविध भक्तिके अङ्गोंका पालन किया जाता है।

हम धर्म-प्राण सज्जनोंको श्रीरूपानुगवर आचार्य और शुद्ध वैष्णवोंके सङ्गमें हरिकथा श्रवण करनेके लिये अनुरोध करते हैं। विश्ववासी सज्जनवृन्द इस अपूर्व सुयोगको ग्रहणकर अपना मनुष्य जन्म सार्थक करें।

निवेदक—

सभ्यवृन्द,

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति।

जैव-धर्म

(पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ५, पृष्ठ ११६ से आगे)

(तृतीय अध्याय)

नैमित्तिक धर्म असंपूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी है

संन्यासी महाराजने इस समय कुछ लज्जित होकर कहा–'वाह, मैंने वैष्णवोंका कृपापात्र होनेके लिये यह वैष्णव वेश ग्रहण किया, किंतु यह और एक मुश्किल खड़ी हुई। मैंने गुरुदेवके मुखसे बारंबार यह बात सुनी है--

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥ (ख)
(चै० च० अन्त्य २०/२१)

तब जिन्हें मैं अपना गुरु मानता हूँ, वे ही वैष्णव-जन मुझको प्रणाम करते हैं, मेरी क्या गति होगी ?' इस प्रकार मनमें आलोचना करते-करते वे परमहंस बाबाजीके पास गये और उनको साष्टांग दंडवत प्रणाम किया।

माधवी मंडपमें बैठकर बाबाजी हरिनाम कर रहे थे। संन्यासी महाराजका संपूर्ण वेश परिवर्त्तन और नामके प्रति भावोदय देखकर प्रेमाश्रुओंसे अपने शिष्यको नहलाते हुए उन्हें गले लगा लिया। और बोले --'वैष्णवदास' आज तुम्हारे मंगलपूर्ण शरीरको स्पर्श करके मैं कृतार्थ हो गया।'

ऐसा कहनेके साथही साथ संन्यासी महाराजका पूर्व नाम दूर हो गया। अब वे वैष्णवदासके नामसे परिचित हुए। संन्यासीको आजसे एक अपूर्व जीवन प्राप्त हुआ। मायावादी संन्यासीका वेश, संन्यासाश्रमका अहंकारपूर्ण नाम और अपनेको महत् समझनेका अभिमान—सभी दूर हो गए।

तीसरे पहर श्रीप्रद्युम्नकुंजमें श्रीगोद्रुम और श्रीमध्यद्वीपके निवासी अनेक वैष्णव परमहंस बाबा-जीके दर्शन करने आये थे। परमहंस बाबाजीको घेर कर उनके चारों ओर वे बैठे थे। सभी तुलसीकी मालासे हरिनामका जप कर रहे थे। कोई कोई "हा गौरांग नित्यानंद !" कोई कोई "हा सीतानाथ !" और कोई कोई "जय शचीनंदन !"-इत्यादि कहते हुए आँसुओंसे तर हो रहे थे। सभी परस्पर ईष्टगोष्ठी कर रहे थे। वैष्णवजन तुलसीकी परिक्रमा कर वैष्णवोंको दंडवत् प्रणाम कर रहे थे। इसी समय वैष्णवदास आकर श्रीवृन्दादेवीकी परिक्रमा करके वैष्णवोंके पदरजमें लोटने लगे।

कोई कोई महात्मा आपसमें कानाफुसी करने लगे–'यही न वे संन्यासी महाराज हैं। आज इनकी कैसी अद्भुत मूर्त्ति हो गई है।'

वैष्णवोंके सामने पृथ्वीपर लोटते हुए वैष्णवदास कह रहे थे-"आज मैं वैष्णवोंकी चरणरज पाकर कृतार्थ हो गया। श्रीगुरुदेवकी कृपासे मैंने अच्छी तरहसे जान लिया है कि वैष्णवपदरजके सिवा-जीवकी और गति नहीं है। वैष्णवकी पद-रज, वैष्णवका चरणोदक और वैष्णवकी अधर-सुधा–ये तीनों वस्तुएँ भवरोगकी औषध और भवरोगीके पथ्य हैं। इससे केवल भवरोग ही दूर होता हो,ऐसी बात नहीं, अपितु जिनका भवरोग दूर हो गया है ऐसे पुरुषोंको इनसे परम भोग भी लाभ होता है। हे वैष्णवगण ! ऐसा न समझें कि, मैं अपने पांडित्यका अहंकार प्रकाश करता हूँ। मेरा हृदय आजकल सब अहंकारोंसे शुन्य हो गया है। ब्राह्मणकुलमें जन्म हुआ था, सभी शास्त्रोंका अध्ययन किया था और चतुर्थाश्रममें प्रवेश भी किया

(ख) अर्थात् तृणकी अपेक्षा भी सुनीच और वृक्षकी अपेक्षा भी सहनशील होकर, स्वयं अभिमान शुन्य होकर, औरोंको सम्मान देते हुए सर्वदा हरि-कीर्त्तन करना चाहिए।

था। उस समय मेरे अहंकारकी सीमा न थी। किंतु जबसे मैं वैष्णवतत्त्वकी ओर आकृष्ट हुआ, तबसे मेरे हृदयमें एक दीनताका बीज रोपित हो गया। मैं क्रमशः आप लोगोंकी कृपासे जन्माहंकार, विद्यामद और आश्रमगौरवको दूर कर चुका हूँ, इस समय मुझे जान पड़ता है कि मैं एक निराश्रित क्षुद्र जीव हूँ। वैष्णव-चरणाश्रयके बिना मेरी और किसी प्रकार गति नहीं है। ब्राह्मणत्व, विद्या और संन्यास,ये मेरा अधः-पतन कर रहे थे। मैंने सरल भावसे आप लोगोंके चरणोंमें सब बातें कह दी है। अब अपने दासको जो करना हो, करें।"

वैष्णवदासके इन दीनतापूर्ण वचनोंको सुनकर उनमेंसे अनेक कह उठे—'हे भागवत-प्रवर! आप जैसे वैष्णवकी चरण-रेणु प्राप्त करनेके लिए हम लालायित हैं। कृपा पूर्वक हमें अपनी पद-रज देकर कृतार्थ करें। आप परमहंस बाबाजीके कृपापात्र हैं, हमें भी अपना संगी बनाकर पवित्र कीजिए। आप जैसे भक्तोंके संगसे ही भक्ति पायी जाती है। शास्त्रका कथन है,—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसंगेन परिजायते।
सत्संगः प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्वसंचितैः॥
(बृहन्नारदीय पुराण ४।३३)

अर्थात्, भगवद्भक्तोंके संग प्रभावसे भक्तिवृत्तिका उदय होता है। जीव पूर्व-पूर्व जन्मोंके संचित सुकृतिके फलसे ही विशुद्ध भक्तोंका संग पाते हैं।

हमारी पुंज-पुंज भक्तिपोषक सुकृति थी, इसीसे हमने आपका सत्संग पाया है। अब हम आपके सत्संगसे हरिभक्ति लाभ करनेकी आशा करते हैं।"

वैष्णवोंका परस्पर दैन्य और प्रणति समाप्त होने पर उस भक्त गोष्ठीमें वैष्णवदास एक तरफ बैठकर गोष्ठीकी शोभा बढ़ाने लगे, उनके हाथमें हरिनामकी माला शोभा पा रही थी।

उस गोष्ठीमें उस दिन एक भाग्यवान पुरुष बैठे थे। वे लड़कपनसे ही अरबी, फारसी भाषा पढ़कर बहुत कुछ मुसलमान राजाओंके व्यवहारका अनुकरण कर देशमें एक प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते थे। निवास शांतिपुरमें था। ब्राह्मण जाति और उसमें भी कुलीन थे। बड़ी जमींदारी थी। लोगोंमें दलबंदी करानेके काममें बड़े निपुण थे। बहुत दिन तक उन पदोंको भोग कर उनमें उन्हें कुछ सुख नहीं मिला। अंतमें उन्होंने हरिनाम संकीर्त्तन आरंभ कर दिया।

बाल्यकालमें ही दिल्लीके बड़े-बड़े उस्तादोंसे इन्होंने राग-रागिनियोंकी शिक्षा पाई थी। उसी शिक्षाके बलसे वे हरिनाम संकीर्त्तनमें भी मुखिया बन बैठे। यद्यपि वैष्णवलोग उनके उस्तादी सुरोंको पसंद नहीं करते थे, तथापि संकीर्त्तनमें वे थोड़ी-थोड़ी गलेबाजी दिखाकर अपना माहात्म्य प्रकट करते करते, प्रशंसाकी अभिलाषासे औरोंका मुँह ताकने लगते। कुछ दिनों तक ऐसा करते-करते उन्हें नाम संकीर्त्तनमें कुछ सुख मिलने लगा। उसके बाद उन्होंने श्रीनवद्वीपमें वैष्णवोंके निकट गानकीर्त्तनमें सम्मिलित होनेके लिए श्रीगोद्रुमसे आकर एक वैष्णवाश्रममें डेरा डाला। उसी वैष्णवके साथ वे प्रद्युम्नकुंजमें आकर मालती-माधवी मंडपमें बैठे थे। वैष्णवोंके परस्पर व्यवहार दैन्यप्रकाश और वैष्णवदासकी बातें सुनकर, उनके मनमें कई संदेह उपस्थित हुए। वे बोलनेमें निपुण थे, इसलिए साहसपूर्वक उस वैष्णव-सभामें जिज्ञासा कर बैठे। उनका प्रश्न इस प्रकार था।

"मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मण वर्णको सर्वोत्तम वर्ण कहा गया है। उनके अनुसार ब्राह्मणोंके लिये संध्या-वंदना आदि नित्य कर्म हैं यदि वह कार्य नित्य है तो वैष्णवोंके व्यवहार उनके विरुद्ध क्यों होते हैं?

वैष्णव तर्क-वितर्क पसंद नहीं करते। कोई तार्किक ब्राह्मण यदि ऐसा प्रश्न करता तो वे कलहके भयसे कोई उत्तर न देते। किंतु समागत प्रश्नकर्त्ताको हरि नामगान करने वाला देखकर उन सबने कहा—'श्रीयुत परमहंस बाबाजी महाशय यदि इस प्रश्नका उत्तर दें तो हमें आनंद होगा।

परमहंस बाबाजीने वैष्णवोंका आदेश सुनकर दंडवत् प्रणाम करनेके बाद कहा—महोदयगण, यदि आप लोगोंकी इच्छा हो तो भक्तप्रवर श्रीवैष्णवदास उक्त प्रश्नका सम्यक् उत्तर देंगे।' सभीने इसका अनुमोदन किया।

वैष्णवदास श्रीगुरुदेवकी बात सुनकर अपनेको धन्य जानकर नम्रतापूर्वक कहने लगे—मैं बहुत ही अधम और अकिंचन हूँ। ऐसी महती विद्वत्सभामें मेरा कुछ बोलना अत्यन्त अनुचित है फिर भी गुरुदेवकी आज्ञा सर्वदा शिरोधार्य है। मैंने गुरुदेवके मुखारविंदसे निकले हुए जिस तत्त्वोपदेशरूप मधुका पान किया है, उसीको स्मरण करके यथाशक्ति बोलता हूँ।' इतना कह कर वैष्णवदासने परमहंस बाबाजी की चरण-रज सारे शरीरमें लगाकर खड़े होकर कहना शुरू किया—

"जो साक्षात् परमानंदमय भगवान् हैं, ब्रह्म जिनके अङ्गकी कांति है और परमात्मा जिनके अंश हैं, समस्त प्रकाश और विलासके आधार स्वरूप वे श्रीकृष्णचैतन्यदेव ही हम लोगोंको बुद्धिवृत्ति प्रेरण करें। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र वेदशास्त्रके अनुगत विधि-निषेध-निर्णायक शास्त्र होनेके कारण इनका जगत् में सर्वत्र आदर हैं। मानव प्रकृति दो प्रकारकी होती है— (१) वैधी और (२) रागानुगा। जब तक मानवकी बुद्धि मायाके अधीन रहती है, तब तक मनुष्य-प्रकृति अवश्य ही वैधी रहेंगी। मायाके बंधन से मनुष्यकी बुद्धि मुक्त होनेपर फिर वैधी प्रवृत्ति नहीं रहती—रागानुगा प्रकृति प्रकट होती है। रागानुगा प्रकृति ही जीवकी शुद्ध प्रकृति--स्वभावसिद्ध, चिन्मय और जड़मुक्त है। श्रीकृष्णकी इच्छासे शुद्ध चिन्मय जीवका जड़ संबंध दूर होता है, किंतु जब तक कृष्णकी इच्छा नहीं होती तब तक जड़ संबंध केवल क्षयोन्मुख होकर रहता है। उस क्षयोन्मुख अवस्थामें मानवबुद्धि स्वरूपतः जड़मुक्त होती है, अर्थात् उस समय भी वस्तुतः जड़मुक्त नहीं होती है। वस्तुतः जड़मुक्त होने पर शुद्ध जीवकी रागात्मिका वृत्ति स्वरूपतः और वस्तुतः उदित होती है। व्रजवासियोंकी प्रकृति ही रागात्मिका प्रकृति है। क्षयोन्मुख अवस्थाएँ उस प्रकृतिके अनुगत होनेसे जीव रागानुग हो पड़ते हैं। जीवके लिये यह अवस्था बड़ी उपादेय है, यह अवस्था जब तक नहीं होती तब तक मानवबुद्धिका अनुराग मायिक वस्तुओंमें ही रहता है। निसर्गके कारण(मायाके कारण परिवर्त्तित स्वभावसे) मूढ़ जीव मायिक विषयोंके अनुरागको ही अपना स्वाभाविक अनुराग समझकर भूल करता है। चिद्विषयका स्वाभाविक विशुद्ध अनुराग उस समय भी नहीं होता। मायिक विषयमें "मैं और मेरा" ये दो अभिमान गाढ़ेरूपसे कार्य करते रहते हैं। "यह देह मेरी है और देहही मैं हूँ" इस बुद्धि द्वारा इस जड़ देहके सुखदायक व्यक्ति और वस्तुमें प्रीति तथा सुखबाधक व्यक्ति और वस्तुमें द्वेष सहज ही हुआ करता है। इस राग द्वेषके वशीभूत होकर मूढ़ जीव अन्यके प्रति शारीरिक, सामाजिक और नैतिक प्रीति एवं विद्वेष प्रकट कर अन्यको शत्रु-मित्र जानता है—विषयको लेकर विवाद करता है। कनक और कामिनी में मिथ्या प्रीति करके सुख-दुःखके अधीन हो पड़ता है। इसीका नाम संसार है इस संसारमें आसक्त होकर जन्म,मरण,कर्म, फल–उच्च नीच अवस्था लाभकर मायाबद्ध जीव भ्रमण करते हैं। इन जीवोंका चिदनुराग सहज नहीं जान पड़ता। चिदनुराग क्या चीज है, इसकी भी उपलब्धि नहीं होती। आहा! चिदनुराग ही जीवका स्वधर्म और नित्य प्रकृति है, इसे भूल कर जड़ानुरागमें विभोर होकर चित्कण स्वरूप जीव अपनी अधोगति भोग करता है। संसारमें प्रायः सभी इस दुर्दशाको दुर्दशा ही नहीं समझते।

"रागात्मिका प्रकृतिकी बात तो दूर रहे, मायाबद्ध जीव रागानुगा प्रकृतिसे भी बिलकुल अपरिचित होता है। कभी-कभी साधुओंकी कृपासे जीवोंके हृदयमें रागानुगा प्रकृति उदय होती है, इसलिये रागानुगा प्रकृति विरल और दुर्लभ है, संसार उस प्रकृतिसे वंचित है।

"किन्तु भगवान् सर्वज्ञ और कृपामय हैं। उन्होंने देखा,--मायाबद्ध जीव चित्-प्रवृत्तिसे वंचित हो गया है। अब उसका मंगल किस प्रकार हो? मायामुग्ध जीवोंमें कृष्ण-स्मृतिके ज्ञान होनेका उपाय क्या हो सकता है? साधुसंग होनेसे जीव अपनेको कृष्णदास समझ सकेगा। किंतु साधुसंगके लिए कोई निर्दिष्ट विधि नहीं। अतः इसकी आशा भी कैसे की जा सकती है, कि वह सबके लिए संभव या सुलभ होगा? अतएव साधारण लोगोंके लिये कोई विधि-मार्ग न होनेसे उनका कोई कल्याण न होगा। भगवान् की ऐसी ही कृपा

दृष्टिसे शास्त्र उदित हुए। आर्य हृदयरूपी आकाशमें भगवत्-कृपा प्रसूत शास्त्र सूर्य्यने उदित होकर सर्व-साधारणके लिए सब प्रकारकी आज्ञा-विधियोंका प्रचार किया।

पहले पहल वेद-शास्त्र हुए। वेद शास्त्रके किसी भागमें कर्म, किसी भागमें ज्ञान और किसी भागमें प्रीति रूपाभक्तिके उपदेश दिये गये। मायामुग्ध जीवोंकी अनेक अवस्थाएं हैं। कोई बिलकुल ही मूढ़ तो कोई कुछ विज्ञ हैं। और कोई कोई बहुत से विषयोंमें विज्ञ होते हैं। जीवकी बुद्धि जैसी होती है, शास्त्रमें उसके प्रति वैसा ही आदेश है। इसीका नाम अधिकार है। यद्यपि जीवोंकी संख्याके अनुसार अधिकार अनंत हैं फिरभी प्रधान प्रधान लक्षणोंके अनुसार वे तीन भागों में विभक्त हैं--(१) कर्म्माधिकार (२) ज्ञानाधिकार (३) प्रेमाधिकार। वेद शास्त्रोंमें ऐसे ही त्रिविध अधिकार निर्दिष्ट हुए हैं। वेदमें विधियोंका निर्माण कर इन तीनों अधिकारोंके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय किया है। इसीसे निर्दिष्ट धर्मका नाम वैध-धर्म है। मनुष्य जिस प्रवृतिसे परिचालित होकर उस धर्मको ग्रहण करते हैं, उस प्रवृतिका नाम वैधी-प्रवृत्ति है। जिसमें वैधी-प्रवृत्ति नहीं वे नितान्त अवैध हैं। अवैध मनुष्य पाप कर्मोंमें निरत रहते हैं। उनका जीवन सदा अवैध कामोंमें लगा रहता है। ऐसे लोग वेदसे बहिर्भूत होते हैं और म्लेच्छ इत्यादि नामोंसे पुकारे जाते हैं। वेद शास्त्रोंने जिन त्रिविध अधिकारोंका निर्णय किया है, उन्हींको ऋषियोंने संहिता शास्त्रोंमें बढ़ाकर वेदानुगत अन्यान्य शास्त्रोंका प्रकाश किया है। मनु आदि पण्डितोंने बीस धर्मशास्त्रोंमें कर्माधिकारका वर्णन किया है। दर्शनवादियोंने तर्क और विचार शास्त्रमें ज्ञानाधिकारका विचार किया है। पौराणिकों तथा विशुद्ध तांत्रिकोंने भक्ति तत्त्वके अधिकारगत उपदेश और क्रियायोंका निर्णय किया है। सभी वैदिक हैं। उन शास्त्रोंके नवीन मीमांसकोंने सर्व शास्त्रोंके तात्पर्य्य की ओर दृष्टि न रखकर कहीं-कहीं किसी एक अङ्गकी सर्वोत्कृष्टताका वर्णन कर कितने ही लोगोंको वितर्क और सन्देहके गड्ढेमें ढकेल दिया है। उन शास्त्रोंकी अपूर्व मीमांसारूप गीताशास्त्रको देखनेसे जान पड़ता है कि कर्मका उद्देश्य ज्ञान न होनेसे वैसे कर्मको पाषण्ड समझकर परित्याग करना उचित है। फिर कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तिके उद्देश्यसे न हो, तो कर्म और ज्ञान दोनों ही पाषण्ड ठहरते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग वास्तवमें एक ही योग है—यही बौदक वैष्णव सिद्धान्त है।

मायामुग्ध जीवको पहले ही कर्मका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसके बाद कर्मयोग और ज्ञानयोग—अंतमें भक्तियोगका। मायामोहित जीवको जबतक कोई एक सीढ़ी न दिखला दी जाय, तब तक वे किसी तरह भी भक्ति मंदिर तक उठ नहीं सकते।

"कर्मका आश्रय करना किसे कहते हैं?---जीवन धारण पूर्वक शरीर और मनसे जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं; कर्म दो प्रकारके हैं---एक शुभ और दूसरा अशुभ। शुभ कर्मसे जीवको शुभ फल मिलता है और अशुभ कर्म द्वारा जीवको अशुभ फल मिलता है। अशुभ कर्मको पाप या विकर्म कहते हैं। शुभ कर्मके न करनेको "अकर्म" कहते हैं। ये दोनों ही बुरे हैं। शुभ कर्म ही उत्तम है। शुभ कर्म भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक और (३) काम्य। काम्यकर्म सर्वथा स्वार्थसे पूर्ण होनेकी वजहसे हेय है। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका उपदेश शास्त्रोंमें दिया गया है। हेयता और उपादेयताके विचारसे शास्त्रमें नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मको ही कर्म कहते हैं; अकर्म और कुकर्म कर्म नहीं कहे गये हैं। इस तरह जब काम्यकर्मको भी हेय समझकर त्याग दिया गया है, तब नित्य और नैमित्तिक कर्म ही, कर्म हैं। शरीर, मन, समाज और परलोकके मङ्गलजनक कर्मको नित्यकर्म कहते हैं। नित्य कर्म सभीके लिये कर्त्तव्य कर्म है। जो कर्म किसी निमित्तका आश्रयकर जब-जब नित्यकर्मकी तरह कर्त्तव्य कर्म होता है, उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। संध्या, वंदना, पवित्र उपायों द्वारा शरीर और समाज रक्षण, सत्य व्यवहार और पालनीयका पालन---ये सभी नित्यकर्म हैं। मृत माता-पिताके प्रति कर्त्तव्यका आचरण आदि और पाप उपस्थित होनेपर प्रायश्चित करना---ये सभी नैमित्तिक कर्म हैं।

(क्रमशः)